भाष्यकाराः – जगद्गुरुरामानन्दाचार्याः
स्वामिरामभद्राचार्यमहाराजाः चित्रकूटीयाः

हिमालय
ओङ्कार
जप
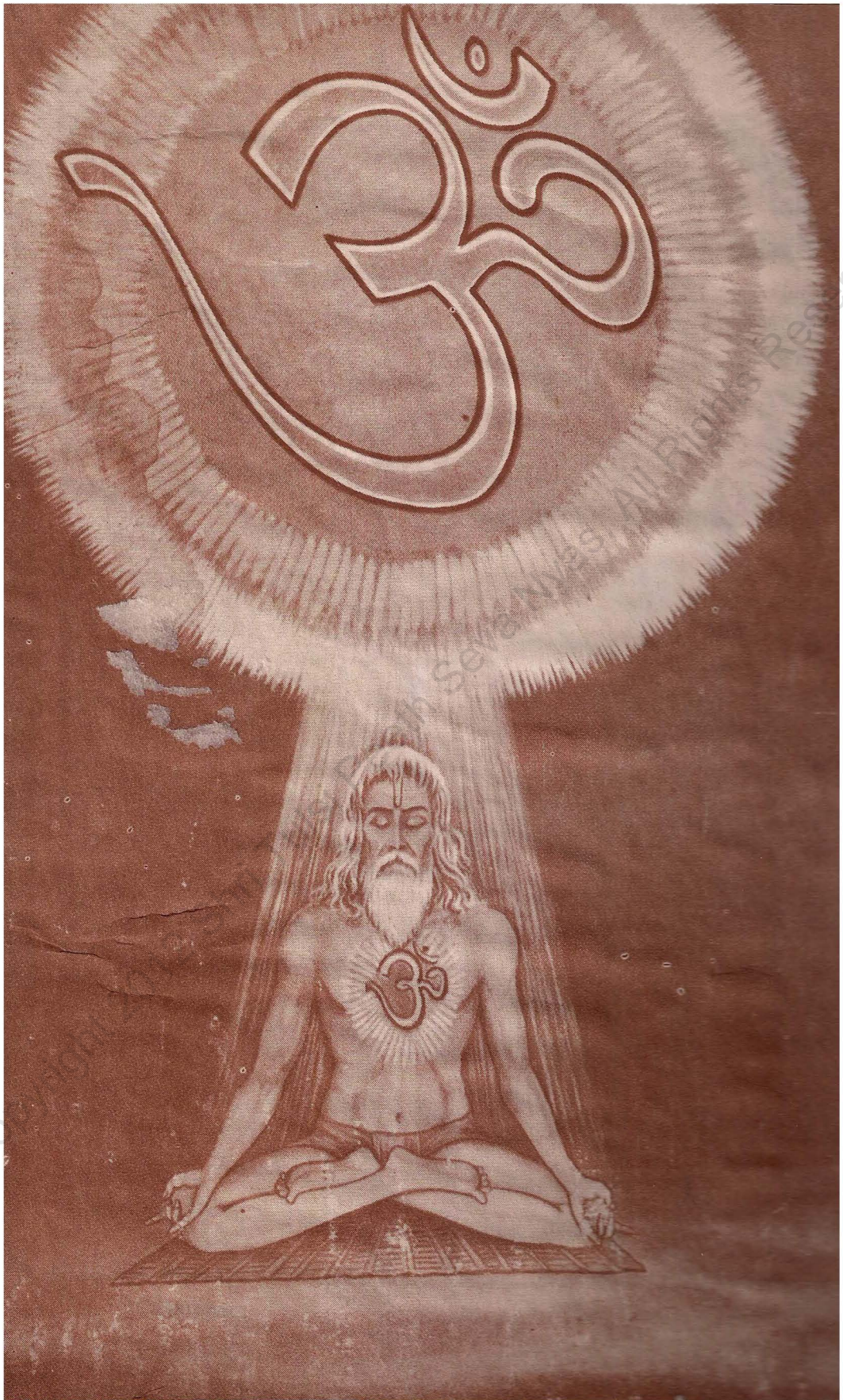
।। श्रीमद्राघवो विजयतेतराम् ।।

।। श्रीरामानन्दाचार्याय नमः ।।

मुण्डकोपनिषदि

(विशिष्टाद्वैतपरकम्)

श्रीराघवकृपाभाष्यम्

(संस्कृत-हिन्दी भाष्य सहितम्)

भाष्यकाराः-

जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्याः

स्वामिरामभद्राचार्यजीमहाराजाः

चित्रकूटीयाः

प्रकाशक :

श्रीतुलसीपीठसेवान्यासः

तुलसीपीठः, आमोदवनम्

श्रीचित्रकूटधाम, जनपदं-सतना (म० प्र०)

प्रकाशक :

श्रीतुलसीपीठसेवान्यासः

तुलसीपीठः, आमोदवनम्,
श्रीचित्रकूटधाम, जनपदं–सतना (म० प्र०)
दूरभाष : ०७६७०–६५४७८

✪

प्रथमसंस्करणम् : ११०० प्रतयः

✪

✪

मूल्यम् : ९०.०० रुपया

✪

प्राप्तिस्थानम् :

तुलसीपीठः, आमोदवनम्, चित्रकूटं जनपदं–सतना (म० प्र०)
वसिष्ठायनम्, (रानीगली) जगद्गुरु रामानन्दाचार्य मार्ग, भोपतवाला, हरिद्वार (उ० प्र०)
श्रीगीताज्ञानमन्दिर, भक्तिनगर सर्कल, राजकोट (गुजरात) पिन– ३६०००२

✪

मुद्रक :

राघव ऑफसेट
बैजनत्था, वाराणसी– १०
फोन : ३२००३९

।। श्रीराघवो विजयतेतराम् ।।

प्रकाशकीयम्

नीलनीरदसंकाशकान्तये श्रितशान्तये ।
रामाय पूर्णकामाय जानकीजानये नमः ।।

साम्प्रतिकबुद्धिजीविवर्गे पण्डितसमाजे च श्रीवैष्णवसत्समाजे को नाम नाभिनन्दति ? पदवाक्यप्रमाणपारावारीणकवितार्किकचूडामणिसारस्वत-सार्वभौमपण्डितप्रकाण्डपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीवैष्णवकुलतिलकत्रिदण्डीश्वर-श्रीचित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरुरामानन्दाचार्यवाचस्पतिमहामहनीयस्वामिरामभद्राचार्य-महाराजराजिष्णुप्रतिभाधनम् । आचार्यचरणैः श्रीसम्प्रदायश्रीरामानन्दीय-श्रीवैष्णवानुमोदितविशिष्टाद्वैतवादाम्नायमनुसृत्य ईशावास्यादि बृहदारण्यकान्तानामेका-दशोपनिषदां श्रीराघवकृपाभाष्यं प्रणीय भारतीयसंस्कृतवाङ्मयसनातनधर्मावलम्बिनां कियान् महान् उपकारो व्यधायीति तु निर्णेष्यतीतिहासः सोल्लासः । अस्य ग्रन्थरत्नस्य प्रकाशनदायित्वं श्रीतुलसीपीठसेवान्यासाय प्रदाय ऋणिनः कृता वयं श्रीमज्जगद्गुरुभिः वयं तेषां सततमाधमर्ण्यभाजः । अहं धन्यवादं दित्सामि साधुवादं च, वाराणसीस्थाय राघव ऑफसेट मुद्रणालयाध्यक्षाय चन्दनेशाय श्रीविपिनशंकरपाण्ड्यामहाभागाय, येन महता परिश्रमेण निष्ठया च गुरुगौरवेण जनताजनार्दनकरकमलं समुपस्थापितं ग्रन्थरत्नमेतत् । अहमाभारं बिभर्मि सकल-शास्त्रनिष्णातानां पण्डितप्रवराणां मुद्रणदोषनिराकरणचञ्चुनां जगद्गुरुवात्सल्यभाजनानां परमकुशलकर्मणां पं० प्रवर श्रीशिवरामशर्मणाम् पं० कृपासिन्धुशर्मणाम् च ।

अन्ततः साग्रहं निवेदयामि सर्वान् विद्वत्प्रवरान्, यत्—

ग्रन्थरत्नमिदं मत्वा सीताभर्तुरनुग्रहम् ।
निराग्रहाः समर्चन्तु रामभद्रार्यभारतीम् ।।

इति निवेदयते

राघवीया

कु० गीता देवी

प्रबन्धन्यासी, श्रीतुलसीपीठसेवान्यासस्य

श्रीराघवाष्टकम्

निशल्या कौसल्या सुखसुरलतातान्तिहृतये।
यशोवारां राशेरुदयमभिकाङ्क्षन्निव शशी।
समञ्चन् भूभागं प्रथयितुमरागं पदरतिम्।
तमालश्यामो मे मनसि शिशुरामो विजयते ।।१।।

क्वचित् क्रीडन् व्रीडाविनतविहगैर्वृन्दविरुदो।
विराजन् राजीवैरिव परिवृतस्तिग्मकिरणः।
रजोवृन्दं वृन्दाविमलदलमालामलमलम्।
स्वलङ्कुर्वन् बालः स इह रघुचन्द्रो विजयते ।।२।।

क्वचिन् माद्यन् माद्यन् मधुनवमिलिन्दार्यचरणा-।
म्बुजद्वन्द्वो द्वन्द्वापनयविधिवैदग्ध्यविदितः।
समाकुञ्चत् केशैरिव शिशुघनैः संवृतमिव।
विधुं वक्त्रं बिभ्रन् नरपतितनूजो विजयते ।।३।।

क्वचित् खेलन् खेलन् मृदुमरुदमन्दाञ्चलचल-।
च्छिरः पुष्पैः पुञ्जैर्विवुधललनानामभिचितः।
चिदान्दो नन्दन् नवनलिननेत्रो मृदुहसन्।
लसन् धूलीपुञ्जैर्जगति शिशुरेको विजयते ।।४।।

क्वचिन् मातुः क्रोडे चिकुरनिकरैरंजितमुखः।
सुखासीनो मीनोपमदृशिलसत्कज्जलकलः।
कलातीतो मन्दस्मितविजितराकापतिरुचिः।
पिबन् स्तन्यं रामो जगति शिशुहंसो विजयते ।।५।।

क्वचिद् बालो लालालसितललिताम्भोजवदनो।
वहन् वासः पीतं विशदनवनीतौदनकणान्।

विलुण्ठन् भूभागे रजसि विरजा सम्भृत इव ।
तृषा ताम्यत्कामो भवभयविरामो विजयते ।।६।।

क्वचिद् राज्ञो हर्षं प्रगुणयितुकामः कलगिरा ।
निसिञ्चन् पीयूषं श्रवणपुटके सम्मतसताम् ।
विरिंगन् पणिभ्यां वनरुहपदाभ्यां कलदृशा ।
निरत्यन् नैरारश्यं नवशशिकरास्यो विजयते ।।७।।

क्वचिन् नृत्यन् छायाच्छुपितभवभीतिर्भवभवो ।
दधानोऽलंकारं विगलितविकारं शिशुवरः ।
पुराराते: पूज्यः पुरुषतिलकः कन्दकमनः ।
अयोध्यासौभाग्यं गुणितमिहरामो विजयते ।।८।।

जयत्यसौ नीलघनावदातो ।
विभा विभातो जनपारिजातः ।
शोभा समुद्रो नरलोकचन्द्रः ।
श्रीरामचन्द्रो रघुचारुचन्द्रः ।।९।।

ईशावास्यसमारब्धाः बृहदारण्यकान्तिमाः ।
ऐकादशोपनिषदो विशदाः श्रुतिसम्मताः ।।१०।।

श्रीराघवकृपाभाष्यनाम्ना भक्तिसुगन्धिना ।
पुण्यपुष्पोत्करेणेड्याः मया भक्त्या प्रपूजिताः ।।११।।

क्वचित्क्वचित् पदच्छेदः क्वचिदन्वययोजना ।
क्वचिच्छास्त्रार्थपद्धत्या पदार्थाः विशदीकृताः ।।१२।।

खण्डनं परपक्षाणां विशिष्टाद्वैतमण्डनम् ।
चन्दनं वैष्णवसतां श्रीरामानन्दनन्दनम् ।।१३।।

श्रीराघवकृपाभाष्यं भूषितं सुरभाषया ।
भाषितं भव्यया भक्त्या वेदतात्पर्यभूषया ।।१४।।

प्रमाणानि पुराणानां स्मृतीनामागमस्य च।
तथा श्रीमानसस्यापि दर्शितानि स्वपुष्टये।।१५।।

प्रत्यक्षमनुमानं च शाब्दञ्चेति यथास्थलम्।
प्रमाणत्रितायं ह्यत्र तत्वत्रयविनिर्णयम्।।१६।।

विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तदर्पणं श्रुतितर्पणम्।
अर्पणं रामभद्रस्य रामभद्रसमर्पणम्।।१७।।

यदि स्युः त्रुटयः काश्चित्ताः ममैवाल्पमेधसः।
यदत्र किञ्चिद्वैशिष्ट्यं तच्छ्रीरामकृपाफलम्।।१८।।

रुद्रसंख्योपनिषदां मया भक्त्या प्रभाषितम्।
श्रीराघवकृपाभाष्यं शीलयन्तु विमत्सराः।।१९।।

इति मंगलमाशास्ते
श्रीवैष्णवविद्वत्प्रीतिवशंवदो राघवीयो जगद्गुरु रामानन्दाचार्यो स्वमिरामभद्राचार्यः
अधिचित्रकूटम्।

•

।। श्रीराघवो विजयतेतराम् ।।

उपोद्‌घात

नमो वेदान्तवेद्याय रामायामिततेजसे।
जानकीवदनाम्भोज संल्लसल्लोचनालये ।।

मुण्डकोपनिषद् प्रायः वेदान्त की अधिकार निरूपिका मानी जाती है क्योंकि वेदान्त जिज्ञासाओं की परिस्थितियों तथा अधिकारियों की मनोदशाओं एवं उसके विचारगत द्वन्द्वों का बड़ा ही मनोहारी विश्लेषण हुआ है। इसमें तीन मुण्डक हैं और प्रत्येक मुण्डक में दो-दो खण्ड हैं। इस छोटी-सी मन्त्र तालिका में सृष्टि की प्रक्रिया तथा ब्रह्म के अभिन्न निमित्तोपादान कारण पक्ष का भी बहुत सारगर्भित निरूपण हुआ है। जिस संसार की आसारता का अनुभव करके साधक जगत् के भोगों से विरक्त होकर परमेश्वर की प्रपत्ति के लिये सद्गुरु की उपसत्ति स्वीकारता है वह संसार भी परमात्मा से ही उत्पन्न हुआ है और उसकी उत्पत्ति में परमात्मा माया की दृष्टि से निमित्त और चेतनांश की दृष्टि से उपादान है। इसीलिये उन्हें सर्ववेदान्त सम्मति से जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण कहा जाता है। उन्हीं परमात्मा से नदी-समुद्रादि उत्पन्न होते हैं। उन्हीं में सबका प्रलय हो जाता है। इस संसार वृक्ष पर जीवात्मा और परमात्मा दो पक्षी रूप में विराजते हैं। इन सभी सिद्धान्तों का हमने हिन्दी और संस्कृत में लिखे हुए श्रीराघवकृपाभाष्य में श्रीरामानन्द सम्प्रदाय के रहस्य के साथ सुगमता से समझाने का प्रयास किया है। यत्र-तत्र शास्त्रार्थ की प्रकृति से निष्पक्षपात शैली द्वारा शास्त्र को स्पष्ट करने का भरपूर प्रयत्न किया गया है। निश्चित है मुण्डकोपनिषद् पर मेरा श्रीराघवकृपाभाष्य सारस्वतों के शास्त्रीय हित साधन के साथ सामान्य जनमानस में भी राघवकृपा की वर्षा करता रहेगा।

।। इति मंगलमाशास्ते धर्मचक्रवर्ती चित्रकूटस्थ श्रीतुलसीपीठाधीश्वर जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य महाराज ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

●

वाचस्पति, श्री तुलसी पीठाधीश्वर
जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य जी महाराज
तुलसीपीठ, आमोदवन, चित्रकूट, जि. सतना (म.प्र.)

पदवाक्यप्रमाणपारावारीण, विद्यावारिधि, वाचस्पति परमहंस परिव्राजिकाचार्य,
आशुकवि यतिवर्य प्रसथानत्रयी भाष्यकार धर्मचक्रवर्ती अनन्तश्री समलंकृत

श्रीतुलसीपीठाधीश्वर जगद्गुरु रामानन्दाचार्य

पूज्यपाद

श्री श्री स्वामी रामभद्राचार्य जी महाराज

का

संक्षिप्त जीवन वृत्त

आविर्भाव

आपका अविर्भाव १४ जनवरी १९५० तदनुसार मकर संक्राति की परम पावन सान्ध्य बेला में वसिष्ठ गोत्रीय उच्च धार्मिक सरयूपारीण ब्राह्मण मिश्र वंश में उत्तर-प्रदेश के जौनपुर जनपद के पवित्र ग्राम शाडीखुर्द की पावन धरती पर हुआ। सर्वत्र आत्मदर्शन करने वाले हरिभक्त, या मानवता की सेवा करने वाले दानवीर, या अपनी मातृभूमि की रक्षा में प्राण बलिदान करने वाले शूर-वीर योद्धा, देशभक्त, को जन्म का सौभाग्य तो प्रभुकृपा से किसी भी माँ को मिल जाता है। परन्तु भक्त, दाता और निर्भीक तीनों गुणों की संपदा से युक्त बालक को जन्म देने का परम श्रेय अति विशिष्ठ भगवत् कृपा से किसी विरली माँ को ही प्राप्त होता है। अति सुन्दर एवं दिव्य बालस्वरूप आचार्य-चरण को जन्म देने का परम सौभाग्य धर्मशीला माता श्रीमती शची देवी और पिताश्री का गौरव पं० श्रीराजदेव मिश्रजी को प्राप्त हुआ।

आपने शैशव अवस्था में ही अपने रूप, लावण्य एवं मार्धुय से सभी परिवार एवं परिजनों को मोहित कर दिया। आप की बाल क्रीड़ाएँ अद्भुत थी। आपके श्वेतकमल समान सुन्दर मुख मण्डल पर बिखरी मधुर मुस्कान, हर देखने वाले को सौम्यता का प्रसाद बाँटती थी। आपका विस्तृत एवं तेजस्वी ललाट, आपके अपार शस्त्रीय ज्ञानी तथा त्रिकालदर्शी होने का पूर्व संकेत देता था। आपका प्रथम दर्शन मन को शीतलता प्रदान करता था। आपके कमल समान नयन उन्मुक्त हास्यपूर्ण मधुर चितवन चंचल बाल क्रीड़ाओं की चर्चा शीघ्र ही किसी महापुरुष के प्राकट्य की शुभ सूचना की भान्ति दूर-दूर तक फैल गई, और यह धारणा बन गई कि

यह बालक असाधारण है। 'होनहार विरवान के होत चीकने पात' की कहावत को आपने चरितार्थ किया।

भगवत् इच्छा

अपने प्रिय भक्त को सांसारिक प्रपञ्चों से दूर रखने के लिए विधाता ने आचार्य वर के लिए कोई और ही रचना कर रखी थी। जन्म के दो महीने बाद ही नवजात शिशु की कोमल आँखों को रोहुआ रोग रूपी राहू ने तिरोहित कर दिया। आचार्य प्रवर के चर्मनेत्र बन्द हो गए। यह हृदय विदारक दुर्घटना प्रियजनों को अभिशाप लगी, परन्तु नवजात बालक के लिए यह वरदान सिद्ध हुई। अब तो इस नन्हे शिशु के मन-दर्पण पर परमात्मा के अतिरिक्त जगत् के किसी भी अन्य प्रपञ्च के प्रतिबिम्बित होने का कोई अवसर ही नहीं था। आपको दिव्य प्रज्ञा-चक्षु प्राप्त हो गए। आचार्य प्रवर ने भगवत् प्रदत्त अपनी इस अन्तर्मुखता का भरपूर उचित उपयोग किया। अब तो दिन-रात परमात्मा ही आपके चिन्तन, मनन और ध्यान का विषय बन गए।

आरम्भिक शिक्षा

अन्तर्मुखता के परिणामस्वरूप आपमें दिव्य मेधाशक्ति और अद्भुत स्मृति का उदय हुआ, जिसके फलस्वरूप कठिन से कठिन श्लोक, कवित्त, छन्द, सवैया आदि आपको एक बार सुनकर सहज कण्ठस्थ हो जाते थे। मात्र पांच वर्ष की आयु में आचार्यश्री ने सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता तथा मात्र आठ वर्ष की शैशव अवस्था में पूज्य पितामह श्रीयुत् सूर्यबली मिश्र जी के प्रयासों से गोस्वामी तुलसीदास जी रचित सम्पूर्ण रामचरितमानस क्रमबद्ध पंक्ति, संख्या सहित कण्ठस्थ कर ली थी। आपके पूज्य पितामह आपको खेत की मेड़ पर बिठाकर आपको एक-एक बार में श्रीमानस के पचास पचास दोहों की आवृत्ति करा देते थे। हे महामनीषी, आप उन सम्पूर्ण पचास दोहों को उसी प्रकार पंक्ति क्रम संख्या सहित कण्ठस्थ कर लेते थे। अब आप अधिकृत रूप से श्रीरामचरितमानससरोवर के राजहंस बन कर श्रीसीता-राम के नाम, रूप, गुण, लीला, धाम और ध्यान में तन्मय हो गए।

उपनयन एवं दीक्षा

आपका पूर्वाश्रम का नाम 'गिरिधर-मिश्र' था। इसलिए गिरिधर जैसा साहस, भावुकता, क्रान्तिकारी स्वभाव, रसिकता एवं भविष्य निश्चय की

दृढ़ता तथा निःसर्ग सिद्ध काव्य प्रतिभा इनके स्वभाविक गुण बन गये। बचपन में ही बालक गिरिधर लाल ने छोटी-छोटी कविताएँ करनी **प्रारम्भ** कर दी थीं। २४ जून १९६१ को निर्जला एकादशी के दिन 'अष्टवर्ष ब्राह्मणमुपनयीत' इस श्रुति-वचन के अनुसार आचार्यश्री का वैदिक परम्परापूर्वक उपनयन संस्कार सम्पन्न किया गया तथा उसी दिन गायत्री दीक्षा के साथ ही तत्कालीन मूर्धन्य विद्वान् सकलशास्त्र-मर्मज्ञ पं० श्रीईश्वरदास जी महाराज जो अवध-जानकीघाट के प्रवर्तक श्री श्री १०८ श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज के परम कृपापात्र थे, इन्हें राम मन्त्र की दीक्षा भी दे दी।

उच्च अध्ययन

आपमें श्रीरामचरितमानस एवं गीताजी के कण्ठस्थीकरण के पश्चात् संस्कृत में उच्च अध्ययन की तीव्र लालसा जागृत हुई और स्थानीय आदर्श श्री गौरीशंकर संस्कृत महाविद्यालय में पाँच वर्ष पर्यन्त पाणिनीय व्याकरण की शिक्षा सम्पन्न करके आप विशेष अध्ययन हेतु वाराणसी आ गये। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय की १९७३ शास्त्री परीक्षा में विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कर एक स्वर्ण पदक प्राप्त किया एवं १९७६ की आचार्य की परीक्षा में समस्त विश्वविद्यालय में छात्रों में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कर पाँच स्वर्ण पदक तथा एक रजत पदक प्राप्त किया। वाक्पटुता एवं शास्त्रीय प्रतिभा के धनी होने के कारण आचार्यश्री ने अखिल भारतीय संस्कृत अधिवेशन में सांख्य, न्याय, व्याकरण, श्लोकान्त्याक्षरी तथा समस्यापूर्ति में पाँच पुरस्कार प्राप्त किये, एवं उत्तर प्रदेश को १९७४ की 'चलवैजयन्ती' प्रथम पुरस्कार दिलवाया। १९७५ में अखिल भारतीय संस्कृत वाद-विवाद प्रतियोगिता में प्रथम स्थान प्राप्त कर तत्कालीन राज्यपाल डॉ० एम० चेन्ना रेड्डी से कुलाधिपति 'स्वर्ण पदक' प्राप्त किया। **इसी प्रकार आचार्यचरणों ने शास्त्रार्थों एवं भिन्न-भिन्न शैक्षणिक प्रतियोगिताओं में अनेक शील्ड, कप एवं महत्वपूर्ण शैक्षणिक पुरस्कार प्राप्त किये।** १९७६ वाराणसी साधुबेला संस्कृत महाविद्यालय में समायोजित शास्त्रार्थ आचार्यचरण प्रतिभा का एक रोमांचक परीक्षण सिद्ध हुआ। इसमें आचार्य अन्तिम वर्ष के छात्र, प्रत्युत्पन्न मूर्ति, शास्त्रार्थ-कुशल, श्री गिरिधर मिश्र ने 'अधातु परिष्कार' पर पचास विद्यार्थियों एवं अध्यापकों को अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा एवं शास्त्रीय युक्तियों से अभिभूत करके निरुत्तर करते हुए सिंहगर्जनपूर्वक तत्कालीन विद्वान् मूर्धन्यों को परास्त किया था। पूज्य आचार्यश्री ने सं०वि०वि० के व्याकरण विभागाध्यक्ष

पं० श्री रामप्रसाद त्रिपाठी जी से भाष्यान्त व्याकरण की गहनतम शिक्षा प्राप्त की एवं उन्हीं की सन्निद्धि में बैठकर न्याय, वेदान्त, सांख्य आदि शास्त्रों में भी प्रतिभा ज्ञान प्राप्त कर लिया एवं 'अध्यात्मरामायणे अपणिनीयप्रयोगाणां विमर्शः' विषय पर अनुसन्धान करके १९८१ में विद्यावारीधि (Ph.D) की उपाधि प्राप्त की। **अनन्तर "अष्टाध्याय्याः प्रतिसूत्रं शाब्दबोध समीक्षा" इस विषय पर दो हजार पृष्ठों का दिव्य शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करके आचार्य चरणों ने शैक्षणिक जगत् की सर्वोत्कृष्ट अलंकरण उपाधि वाचस्पति" (Dlit) प्राप्त की।**

विरक्त दीक्षा

मानस की माधुरी एवं भागवतादि सद्ग्रन्थों के अनुशीलन ने आचार्य-चरण को पूर्व से ही श्री सीतारामचरणानुरागी बना ही दिया था। अब १९ नवम्बर १९८३ की कार्तिक पूर्णिमा के परम-पावन दिवस को श्रीरामानन्द सम्प्रदाय में विरक्त दीक्षा लेकर आचार्यश्री ने एक और स्वर्ण सौरभ-योग उपस्थित कर दिया। पूर्वाश्रम के डॉ० गिरिधर मिश्र अब श्रीरामभद्रदास नाम से समलंकृत हो गये।

जगद्गुरु उपाधि

आपने १९८७ में श्रीचित्रकूट धाम में श्रीतुलसीपीठ की स्थापना की। उसी समय वहाँ के सभी सन्त-महान्तों के द्वारा आपको श्रीतुलसीपीठाधीश्वर पद पर प्रतिष्ठित किया और ज्येष्ठ शुक्ल गंगा दशहरा के परम-पावन दिन वि० सम्वत् २०४५ तद्नुसार २४ जून १९८८ को वाराणसी में आचार्यश्री का काशी विद्वत् परिषद् एवं अन्य सन्तमहान्त विद्वानों द्वारा चित्रकूट श्रीतुलसीपीठ के जगद्गुरु रामानन्दाचार्य पर पर विधिवत अभिषेक किया गया एवं ३ फरवरी १९८९ को प्रयाग महाकुम्भ पर्व पर समागत सभी श्री रामानन्द सम्प्रदाय के तीनों अखाड़ों के श्रीमहन्तों चतुःसम्प्रदाय एवं सभी खालसों तथा सन्तों द्वारा चित्रकूट सर्वाम्नाय श्रीतुलसीपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामभद्राचार्य महाराज को सर्वसम्मति से समर्थनपूर्वक अभिनन्दित किया।

विलक्षणता

आपके व्यक्तित्व में अद्भुत विलक्षणता है। जिनमें कुछ उल्लेखनीय हैं कोई भी विषय आपको एक ही बार सुनकर कण्ठस्थ हो जाता है और वह कभी विस्मृत नहीं होता। इसी विशेषता के परिणामस्वरूप जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य

जी ने समस्त तुलसी साहित्य अर्थात् तुलसीदास जी के बारहों ग्रन्थ, सम्पूर्ण रामचरितमानस, द्वादश उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, नारद-भक्तिसूत्र, भागवद्गीता, शाण्डिल्य सूत्र, बाल्मीकीयरामायण व समस्त आर्य ग्रन्थों के सभी उपयोगी प्रमुख अंश हस्तामलकवत् कण्ठस्थ कर लिये। आचार्यश्री हिन्दी एवं संस्कृत के आशुकवि होने के कारण समर्थ रचनाएँ भी करते हैं। वसिष्ठ गोत्र में जन्म लेने के कारण आचार्यवर्य श्रीराघवेन्द्र की वात्सल्य भाव से उपासना करते हैं। आज भी उनकी सेवा में शिशु रूप में श्री राघव अपने समस्त परिकर खिलौने के साथ विराजमान रहते हैं। आचार्यवर्य की मौलिक विशेषता यह है कि इतने बड़े पद को अलंकृत करते हुए भी आपका स्वभाव निरन्तर निरहंकार, सरल तथा मधुर है। विनय, करुणा, श्रीराम-प्रेम, सच्चरित्रता आदि अलौकिक गुण उनके सन्तत्त्व को ख्यापित करते हैं। कोई भी व्यक्ति एकबार ही उनके पास आकर उनका अपना बन जाता है। हे भारतीय संस्कृति के रक्षक! **आप अपनी विलक्षणकथा शैली से श्रोताओं को विभोर कर देते हैं।** माँ सरस्वती की आप पर असीम कृपा है। आप वेद-वेदान्त, उपनिषद्, दर्शन, काव्यशास्त्र व अन्य सभी धार्मिक ग्रन्थों पर जितना अधिकारपूर्ण प्रवचन करते हैं उतना ही दिव्य प्रवचन भगवान् श्रीकृष्ण की वाङ्मय मूर्ति महापुराण **श्रीमद्भागवत पर भी करते हैं।** आप सरलता एवं त्याग की दिव्य मूर्ति हैं। राष्ट्र के प्रति आपकी सत्यनिष्ठ स्पष्टवादिता एवं विचारों में निर्भीकता जन-जन के लिए प्रेरणादायक है। आपके दिव्य प्रवचनों में ज्ञान, भक्ति और वैराग्य की त्रिवेणी तो प्रवाहित होती है, साथ ही राष्ट्र का सागर भी उमड़ता है। जिसे आप अपनी सहज परन्तु सशक्त अभिव्यक्ति की गागर में भर कर अपने श्रद्धालु श्रोताओं को अवगाहन कराते रहते हैं।

आपका सामीप्य प्राप्त हो जाने के बाद जीव कृत्य-कृत्य हो जाता है। धन्य हैं वे माता-पिता जिन्होंने ऐसे 'पुत्ररत्न' को जन्म दिया। धन्य हैं वे सद्गुरु जिन्होंने ऐसा भागवत् रत्नाकर समाज की दिया। हे श्रेष्ठ सन्त शिरोमणि! हम सब भक्तगण आपके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर गौरवान्वित हैं।

साहित्य सृजन

आपने अपनी बहुमुखी प्रतिभा से हिन्दी एवं संस्कृत के अनेक आयामों को महत्त्वपूर्ण साहित्यिक उपादान भेंट किये। काव्य, लेख, निबन्ध, प्रवचन संग्रह एवं दर्शन क्षेत्रों में आचार्यश्री की मौलिक रचनाएँ महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

इस प्रकार आचार्यश्री अपने व्यक्तित्व, कृतित्व से श्रीराम-प्रेम एवं सनातन धर्म के चतुर्दिक प्रचार व प्रसार के द्वारा सहस्राधिक दिग्भ्रान्त नर-नारियों को सनातन धर्मपीयूष से जीवनदान करते हुए अपनी यश:सुरभि से भारतीय इतिहास वाटिका को सौरभान्वित कर रहे हैं। तब कहना पड़ता है कि—

शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो नहि सर्वत्र, चन्दनं न वने वने।।

❁ ❁ ❁

संत सरल चित जगतहित, जानि सुभाउ सनेहु।
बाल विनय सुनि करि कृपा, रामचरन रति देहु।।

धर्माचार्य परम्परा :–

भाष्यकार !

प्राचीन काल में धर्माचार्यों की यह परम्परा रही है कि वही व्यक्ति किसी भी सम्प्रदाय के आचार्यपद पर प्रतिष्ठित किया जाता था, जो उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र पर अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तानुसार वैदुष्यपूर्ण वैदिक भाष्य प्रस्तुत करता था। जिसे हम 'प्रस्थानत्रयी' भाष्य कहते हैं, जैसे शंकराचार्य आदि। आचार्यप्रवर ने इसी परम्परा का पालन करते हुए सर्वप्रथम नारदभक्तिसूत्र पर ''श्रीराघवकृपाभाष्यम्'' नामक भाष्य ग्रन्थ की रचना की। उसका लोकार्पण १७ मार्च १९९२ को तत्कालीन उप राष्ट्रपति डॉ० शंकरदयाल शर्मा द्वारा सम्पन्न हुआ।

पूज्य आचार्यचरण के द्वारा रचित 'अरुन्धती महाकाव्य' का समर्पण समारोह दिनांक ७ जुलाई ९४ को भारत के राष्ट्रपति महामहिम डॉ० शंकरदयाल शर्मा जी के कर-कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ।

इसी प्रकार आचार्यचरणों ने एकादश उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा श्रीमद्भगवद्गीता पर रामानन्दीय श्रीवैष्णव सिद्धान्तानुसार भाष्य लेखन सम्पन्न करके विशिष्टाद्वैत अपनी श्रुतिसम्मत जगद्गुरुत्व को प्रमाणित करके इस शताब्दी का कीर्तिमान स्थापित किया है।

आप विदेशों में भी भारतीय संस्कृति का विश्वविश्रुत ध्वज फहराते हुए सजगता एवं जागरूकता से भारतीयधर्माचार्यों का कुशल प्रतिनिधित्व करते हैं।

आचार्यश्री के प्रकाशित ग्रन्थ

१. मुकुन्दस्मरणम् (संस्कृत स्तोत्र काव्य) भाग–१–२
२. भरत महिमा
३. मानस में तापस प्रसंग
४. परम बड़भागी जटायु
५. काका बिदुर (हिन्दी खण्ड काव्य)
६. माँ शबरी (हिन्दी खण्ड काव्य)
७. जानकी-कृपा कटाक्ष (संस्कृत स्तोत्र काव्य)
८. सुग्रीव की कुचाल और विभीषण की करतूत
९. अरुन्धती (हिन्दी महाकाव्य)
१०. राघव गीत-गुञ्जन (गीत काव्य)
११. भक्ति-गीता सुधा (गीत काव्य)
१२. श्री गीता तात्पर्य (दर्शन ग्रन्थ)
१३. तुलसी साहित्य में कृष्ण-कथा (समीक्षात्मक ग्रन्थ)
१४. सनातन धर्म विग्रह-स्वरूपा गौ माता
१५. मानस में सुमित्रा
१६. भक्ति गीत सुधा (गीत काव्य)
१७. श्रीनारदभक्तिसूत्रेषु राघवकृपाभाष्यम् (हिन्दी अनुवाद सहित)
१८. श्री हनुमान चालीसा (महावीरी व्याख्या)
१९. गंगामहिम्नस्तोत्रम् (संस्कृत)
२०. आजादचन्द्रशेखरचरितम् (खण्डकाव्य) संस्कृत
२१. प्रभु करि कृपा पाँवरि दीन्ही
२२. राघवाभ्युदयम् (संस्कृत नाटक)

आचार्यश्री के शीघ्र प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ

१. हनुमत्कौतुक (हिन्दी खण्ड काव्य)
२. संस्कृत शतकावली (क) आर्याशतकम् (ख) सीताशतकम् (ग) राघवेन्द्रशतकम् (घ) मन्मथारिशतकम् (ङ) चण्डिशतकम् (च) गणपतिशतकम् (छ) चित्रकूटशतकम् (ज) राघवचरणचिह्नशतकम्
३. गंगामहिम्नस्तोत्रम् (संस्कृत)
४. संस्कृत गीत कुसुमाञ्जलि
५. संस्कृत प्रार्थनाञ्जलि
६. कवित्त भाण्डागारम् (हिन्दी)

●

।। श्रीराघवो विजयतेतराम् ।।

आचार्यचरणानां बिरुदावली

नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं सीतासमारोपितवामभागम् ।
पाणौ महासायकचारुचापं नमामि रामं रघुवंशनाथम् ।।
रामानन्दाचार्य मन्दाकिनीविमलसलिलासिक्तम् ।
तुलसीपीठाधीश्वरदेवं जगद्गुरुं वन्दे ।।

श्रीमद् सीतारामपादपद्मपरागमकरन्दमधुव्रतश्रीसम्प्रदायप्रवर्तकसकलशास्त्रार्थ-महार्णवमन्दरमतिश्रीमदाद्यजगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यचरणारविन्दचञ्चरीकः समस्त-वैष्णवालंकारभूताः आर्षवाङ्मयनिगमागमपुराणेतिहाससन्निहितगम्भीरतत्वान्वेषण-तत्पराः पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणाः सांख्ययोगन्यायवैशेषिकपूर्वमीमांसावेदान्तनारद-शाण्डिल्यभक्तिसूत्रगीतावाल्मीकीयरामायणः भागवतादिसिद्धान्तबोधपुरःसरसमधि-कृताशेषतुलसीदाससाहित्य-सौहित्यस्वाध्यायप्रवचनव्याख्यानपरमप्रवीणाः सनातनधर्म-संरक्षणधुरीणाः चतुराश्रमचातुर्वर्ण्यमर्यादासंरक्षणविचक्षणाः अनाद्यविच्छिन्नसद्गुरु-परम्पराप्राप्तश्रीमद्सीतारामभक्तिभागीरथीविगाहनविमलीकृतमानसाः श्रीमद्रामचरित-मानसराजमरालाः सततं शिशुरूपराघवलालनतत्पराः समस्तप्राच्यप्रतीच्यविद्या-विनोदितविपश्चितः राष्ट्रभाषागीर्वाणगिरामहाकवयः विद्वन्मूर्धन्याः श्रीमद्रामप्रेम-साधनधनधन्याः शास्त्रार्थरसिकशिरोमणयः विशिष्टाद्वैतवादानुवर्तिनः परमहंस-परिव्राजकाचार्यत्रिदण्डी वर्याः श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठाः प्रस्थानत्रयीभाष्यकाराः श्रीचित्रकूटस्थ-मन्दाकिनीविमलपुलिननिवासिनः श्रीतुलसीपीठाधीश्वराः श्रीमद्जगद्गुरु स्वामी रामानन्दाचार्याः अनन्तश्रीसमलंकृतश्रीश्रीरामभद्राचार्यमहाराजाः विजयतेतराम् ।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

•

।। श्रीमद्राघवो विजयतेतराम् ।।

।। श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः ।।

मुण्डकोपनिषदि

श्रीराघवकृपाभाष्यम्

पदवाक्यप्रमाणपारावारीण-कवितार्किकचूडामणि-वाचस्पति-
जगद्गुरुरामानन्दाचार्य-स्वामि-रामभद्राचार्य-प्रणीतं,
श्रीमज्जगद्गुरु-रामानन्दाचार्यसम्प्रदायानुसारि-
विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तप्रतिपादकश्रीराघवकृपाभाष्यम् ।।

।। श्री राघवो विजयतेतराम् ।।

।। श्रीमद्रामानन्दाचार्यो विजयतेतराम् ।।

अथ मुण्डकोपनिषदि

श्री राघवकृपाभाष्यम्

मंगलाचरणम्–

रामस्तालतमालवैभववपुः कोदण्डदीक्षागुरु–
विंभ्रच्चारुशरालयो करतले शार्ङ्गं शितान् सायकान् ।
लङ्कालङ्करणप्रवेपनपटुः कीनाशलोलानलौ, ।
निघ्नन्रावणमुण्डकानि भगवान् देया दहं मुण्डकम् ।।१।।

मुण्डमालपरितोषकामयया, मुण्डकानि दशवक्त्ररक्षसः ।
अर्पयन्विशिखपातितान्ययं, मुण्डकोपनिषदर्थराघवः ।।२।।

इमाः किंवा ताराः नहि खररिपोर्भूषणमिदं,
किमेषा वैशम्पा नहि रघुपतेः पीतवसनम् ।
असौ किं राकेशो नहि नहि हरेराननमिदं,
किमेषः पाथोदो नहि धरणिजावल्लभवपुः ।।३।।

साकारञ्च निराकारं नीराकारं नराकृतिम् ।
श्रीराममक्षराकारं मुण्डकार्थमुपास्महे ।।४।।

लीलालीनामाङ्गणे शीरकेतोः शम्पाशोभां रामनेत्रैकलोभाम् ।
आचार्यां स्वां मातरं धारणेयीं सीतामीडे ब्रह्मविद्यास्वरूपाम् ।।५।।

रामानन्दपदाम्भोजपरागं रागतो भजे ।
यस्यानुरागमाध्वीकां पीयन्ते ब्रह्मवादिनः ।।६।।

मन्महे तुलसीदासमानसं मानसोपमम् ।
क्षमन्तेऽद्यापि नो धीराः प्राप्तुं यस्य मरालताम् ।।७।।

प्रस्तावभाष्यम्

अथ श्रीसीतारामरमणीयराजीवचरणसमर्चनचिकीर्षया परिकलित-शास्त्रार्थनिर्मलपरिमलसन्निहितपार्वतीपतिपूज्यपुराणपुरुषोत्तममैथिलीमनोरम रघूत्तमपदपाथोरुहप्रेमपरागरसवशीकृतभगवद्भक्तभृंगगणगुम्फितगुच्छस्वच्छवाक्प्रसूनैरथर्ववेदशौनकीयशाखान्तर्गतमुण्डकोपनिषदि श्रीराघवकृपाभाष्यम् निरस्तपाषण्डवादलास्यं श्रीमद्वैष्णवसिद्धान्तभासुरमङ्गुरं भाषे। मुण्डकोपनिषदियं वैदिकासिद्धान्तमुण्डीभूतमन्त्राणां संग्रहभूता, तथा च मुण्डानां श्रुतिशिरसां मंत्राणां समूहः मुण्डकम् असंख्ययात्वेऽपि बाहुलकात्, कन्। एवमत्र त्रीणि मुण्डकानि, प्रत्येकमुण्डकं खण्डद्वयम्। यद्वा मुण्डेभ्यः श्रुतिशिरोभूतमंत्रेभ्यः भगवदन्तरंगमहिमाप्रतिपादनतया कं सुखं यस्मिन् तन्मुण्डकम्। यद्वा मुण्डं परमतार्त्यतया श्रुतीनां मस्तकीभूतं मन्त्रनिकरं ज्ञानकाण्डीयम्, तदिह निजमहिमवर्णनेन भगवताऽपि समनुकम्पितमिति मुण्डकम्, तेषां भगवदनुकम्पापूर्णमन्त्रजातानामुपनिषत्–उप समीपतः निषादयति कामक्रोधाद्यवसादयति या सा उपनिषत्। यद्वा उप समीपं निजपतिपद पाथोजसुरभितशिरं विप्रयुक्तं प्रत्यञ्चमात्मानं निषादयति भगवच्चरणारविन्दं संन्निधापपति या सा उपनिषत्। फलितार्थस्तु—यथा काचित् वल्लभा प्रणयनम्रशिरसा पतिं प्रणमति तथैव भगवद्वल्लभाःश्रुतयः निजपरमतात्पर्यभूतं परमेश्वरं पतितपावनं पतिं मुण्डकैः अनुकम्पितशिरोभिः नमन्त्यस्तं तमालनीलं श्रुतिमहितललितलीलं श्री रामाभिधं ब्रह्मोपनिषण्णाः, मुण्डकैः उपनिषीदन्ति श्रुतयः यस्यां सा मुण्डकोपनिषत्।

तत् प्रथममुण्डकस्य प्रथम शकलोऽविकलो ब्रह्मविद्यास्तुतये प्रवृतः। अथ का नाम ब्रह्मविद्येतिचेत्—ब्रह्मणः विद्या ब्रह्मविद्या षष्ठीतत्पुरूषसमासः प्राप्यप्रापकभावसम्बन्धः। विद्या हि प्रापिका ब्रह्मप्राप्यम् यद्वा ब्रह्म प्रापिका विद्या ब्रह्मविद्या मध्यमपदलोपसमासः। विद्यायां प्रापकत्वं किन्निमित्तं, किं कर्म निमित्तमुताहो ज्ञानकरणकम्, यद्वा भक्तिमाध्यमम्? इति चेदुच्यते नहि तावत् कर्मणा, तेन हि संसारबन्धनजननापत्तेः नवा केवलेन ज्ञानेन तद् वर्त्मनः कृपाणधारयमाणत्वात्—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गमपथस्तत् कवयो वदन्ति । इति श्रुतेः ।

सम्पद्यमानस्यापि तस्य आवरणभंग एव कृतकार्यत्वदर्शनात् । नहि खलु भग्नेऽप्यावरणे द्रष्टा मनस्चक्षु:संयोगमन्तरेण साक्षात्कारे फलवान् भवति । अतएव न केवलेन वा ज्ञानेन परब्रह्म शक्य इति ब्रूमः । **नायमात्माप्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेना** इति निषेधश्रवणाच्च । अथ कथं तत् प्राप्तुं शक्यते ? इति चेत् तत्रैव द्रष्टव्यम् । **यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः** । इति श्रुतिः । अत्रैतत् पदार्थः परमात्मा, यत् पदार्थः साधकः ।

अथ किमाधारः सन् जीवात्मानं वृणुते ? इति जिज्ञासायां मौनमास्ते श्रुतिः । तस्यास्तात्पर्यमेतत् यत् परमस्वतन्त्रस्य भगवतो लीलां को जानीयात् , किन्तु पूर्वत्र **धातुः प्रसादात्** परमेश्वरस्य कृपारुपः । स च दैन्यानुरोधी तस्माच्छ्रुत्यन्तरप्रमाणेन भक्तिरेवैनं गमयतीत्यादिना भक्तिमेव परमात्मप्राप्तौ साक्षाद्धेतुमिति निश्चिन्मः । अथ तर्हि परमात्मप्राप्तावनुपयोगान्मोघारम्भत्वाच्च ज्ञानस्य निरर्थकमिदं ज्ञानकाण्डम् ? मैवम्, मैवम् । ज्ञानं हि जीवस्याज्ञानावरणं भिनत्ति, अत आवरणभंगे तदुपयोगादावश्यकमेव तत् । तस्मिन् मायावरणभंगे भगवत्प्रीतौ प्ररूढायां प्रीतौ च भक्तिद्रढिमा तथैव च सामग्र्येण भगवति ज्ञाते प्रेमाभक्तिरुदेतीति विचारः । तथा च स्मर्यते—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।।

(गीता—१८/५५)

अथ ज्ञानेन सह कर्मणाः समुच्चयो न वा ? अस्तीति ब्रूमः । यत्तु तत्र तत्र कर्मनिन्दनपराणि श्रुतिवाक्यानि यथा—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात् नहि ध्रुवं ह्यध्रुवैः प्राप्यते । प्लवा एते अदृढा यज्ञरूपाः । इत्यादीनि, तेषामयमभिप्रो यत् नहि निन्दा निद्यं निन्दितुं प्रभवति अपि तु विधेयं स्तोतुम् ।

तस्मात् इमानि वचनानि विधेयभूतब्रह्मज्ञानस्तुतिपरतयैव नेयानि न तु कर्मनिन्दापरतया, अन्यथा तेष्वश्रद्धा जागरेण तत्राप्रवृत्यापत्तौ श्रुत्यप्रमाणापत्तेः । यत्तु तमःप्रकाशयोरिव ज्ञानकर्मणोरसामञ्जस्यमुक्तं तदपि नादरणीयम् ।

नियतस्य हि संन्यासो कर्मणो नोपपद्यते ।।

(गीता १८/७)

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।।

इत्यादि वदतो भगवतो वचनानां विरूद्धत्वात् । तमेव ब्राह्मणा: विविदिषन्ति । **वेदानुवचनेन तपसा नाशेन** इति श्रुतिवचनस्यापि विरोधात् । अत्र तु श्रुति: ब्रह्मविविदिषायां वेदानुवचनं, व्रतं, तप:, अनाशकमित्यादि कर्मजातं, कारणमाह—नह्यन्तरेण श्रुतिविहितकर्माणि फलभोग्यवैराग्यमुपजायते, विषयसुखवैराग्यमन्तरेण कुतो ब्रह्मजिज्ञासा, नहि निम्बकीटो हि शर्करां रिरसैषते ।

अत: प्राहुरस्मत्प्रातस्मरणीयचरणकमला: गोस्वामिपादा: श्री मानसे—

प्रथमहि विप्रचरण अति प्रीती । निज निज कर्म निरत श्रुति नीती ।।
यहि कर फल पुनि विषय बिरागा । तब मम धर्म उपज अनुरागा ।।

(मानस ३/१६/६-७)

एवं श्रुतिविहितकर्माणि निर्मलीकुर्वन्ति चित्तम् , नहि चेतसो नैर्मल्यमन्तरेण भगवत: साक्षात्कार: सम्भव: । वस्तुतस्तु परमेश्वरप्राप्तौ कर्मज्ञाने द्वे अपि मार्गौ । मार्गेण लक्ष्यं प्राप्यते यदि कोऽपि मूढो मार्ग एव विश्राम्यतु तदा तु तल्लक्ष्यं दूरमेव तथैव संगस्तूभयोरपि निन्द्य: कर्मणो ज्ञानस्यापि । कर्मसंगेन हि बध्नाति रजोगुण: जीवम् ।

तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ।

(गीता–१४/७)

एवं ज्ञानस्यापि संग: जीवात्मानं बध्नात्येव । यथा—

सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ।

(गीता–१४/६)

अत उभयोरपि संगमूलकबन्धकत्वरूपसमानधर्मेण अस्त्येव समुच्चय: । भक्तिसंगस्तु विहितभवभयभंगसंसृतशंकरजटारंगगांगतरलतरंग इव सुसन्निधिं प्राप्तं जीवमिच्छन्त–मनिच्छन्तं वा सागरमिव सकलसुखसागरं परमात्मानं प्रयत्येव । नहि गंगा प्रवाह-पतितपान्थमनोभावं पृच्छति । तस्मात् ज्ञानेन सह कर्मण: सुतरां समुच्चय: ।

वस्तुतस्तु इमे द्वे अपि निष्ठे कर्मयोगज्ञानयोगसंज्ञक एव तथोक्तं भगवता—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन साख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।।

(गीता–३/३)

एवं संगरहिते कर्मज्ञाने समुचिते एव । ज्ञाने प्राप्तेऽपि जीवन्मुक्तः नहि शारीरं कर्म जहाति—

नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।।

(गीता १८/११)

एवमेव—

त्रैगुण्यविषया वेदाः निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।।

(गीता–२/४५)

तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ।।

(गीता–२/४६)

इत्यादावुत्थापितवेदनिन्दकत्वशङ्कापङ्कोऽपि प्रक्षालितः । अत्रापि निस्त्रैगुण्यरूपविधेयस्तुतिः न तु वेदनिन्दा । इत्थं कर्मज्ञानसमुच्चयनिषेधं कुर्वतां प्रच्छन्नबौद्धानां सन्निपातजल्पितमिव समुपेक्ष्यं श्रुतिविरूद्धप्रलपितम् ।

वयं तु श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्यचरणसरोजमधुव्रताः भगवत्प्राप्तिप्रतिबन्धकपापविनाशाय यथाशक्ति करणीयानि श्रुतिविहितकर्माणि निष्कामभावेन भगवन्तं स्मरता, एवं भगवद्दर्शनविक्षेपनिरासाय समनुष्ठेयान्युपासनान्यपि । तथा च अज्ञानरूपावरणभङ्गाय ज्ञानमप्यनुसरणीयम् । नहि मलविक्षेपाभावमन्तरेण कोऽपि भग्नावरणो भवति, नहि प्रथमद्वितीयसोपानारोहणं विना केनापि तृतीयमरोढुं शक्यम् । न च सनकादयस्तु जन्मप्रभृत्येव ज्ञाननिष्ठाः शुकाचार्योऽपि तथा ? इति चेत् न वयं शुकसनकादय इव भगवदवताराः । अतस्ते नानुकर्तुं शक्याः । नहि कोऽपि रुद्रभिन्नो हालाहलं पीत्वा जीवितुं प्रभवति । तथोक्तं भागवते—

ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित् ।
तेषां यत् सो वचो युक्तं बुद्धिमान्तत्समाचरेत् ।।

(भागवत–१०/३३/३१)

तस्मात् परमात्मज्ञानेऽपि करणीयमेव कर्मेति विरम्यते । यदपि वारम्वारमुक्तं यद् ब्रह्मविद्यायां तुरीयाश्रमिणामेवाधिकारः तदप्यसंगमत् । गृहस्थानां हि वसिष्ठादीनां जनकादीनाञ्च ब्रह्मविज्ञानानापत्तेः शुकसनकादीनामपि परमज्ञानशिखामणीनां तथा–त्वानापत्तेः । यदप्यसकृत् संन्यासिनामेव ब्रह्विद्याधिकार उक्तः तदप्यशोभनम् । याज्ञवल्क्यादीनां तथात्वाभावे गार्ग्यादीनाञ्च योषित्त्वे बृहदारण्यकस्यैव प्रामाण्यानापत्तेः ।

अत्रैव प्रथमे मन्त्रे महागृहस्थस्य ब्रह्मणो ब्रह्मविद्याप्रवर्तकत्वामिधानात्। न खलु ब्रह्मा सन्यासी न वा तत्पुत्रोऽथर्वा। तस्मादिदं दुराग्रहग्रहिलव्याख्यानम्।

अथ शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ।।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

शान्ति पाठोऽयं व्याख्यातचरः प्रश्नोपनिषदि।

प्रथममुण्डके प्रथमखण्डः

अथ ब्रह्मविद्या सम्प्रदायमाह—

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ।।१।।

ॐ इति परमेश्वरस्मरणरूपं मंगलाचरणम्। देवानां सुराणां मध्ये प्रथमः। ज्ञानवयोभ्यां ज्येष्ठः आद्यश्च, सम्बभूव भगवतो विष्णोर्नाभिकमलात् स्वयमेवाविर्बभूवेति भावः। स एव हिरण्यगर्भः **हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे** इति श्रुतेः। भूत्वा किञ्चकार इत्यत् आह—सः विश्वस्य समस्तप्राणिजातस्य कर्त्ता रचयिता बभूव, भगवतः रचितस्य भुवनस्य चतुर्दशसंख्यान्वितस्य गोप्ता रक्षकश्च बभूव। एवं मरीच्यादि महर्षीन् रचयित्वा तेषु ज्ञानतः ज्येष्ठाय अथर्वाख्याय पुत्राय निजसंकल्पसृष्टाय, सर्वविद्याप्रतिष्ठां सर्वाश्च ताः विद्याश्च इति सर्वविद्या व्याकणादयः तासां प्रतिष्ठामाधारभूतां यद्वा सर्वविद्यानां प्रतिष्ठा सम्मानं यस्याः हेतोः सा सर्वविद्याप्रतिष्ठा तां सर्वविद्याप्रतिष्ठां सर्वविद्यासम्मान–जननीमिति भावः। ब्रह्मविद्यां ब्रह्मप्रापकविद्यां वेदान्तनाम्नीं, प्राह समुपादिशत् ।।श्रीः।।

ततः ब्रह्मविद्याप्रवर्तकाचार्यपरम्परां वदति—

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्।
स भारद्वाजाय सत्यवहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ।।२।।

अत्र मन्त्रे अथर्वतः परवर्तिनां त्रयाणामाचार्यणां नामानि कीर्तयति। ब्रह्मा यामाध्यात्म-विद्यामथर्वणे ज्येष्ठपुत्राय प्रवदेत। **व्यत्ययोबहुलम्** अत्र पा०अ० ३/१/५८ इत्यनेन

लङर्थे लिङ् आत्मनेपदप्रत्ययश्च, एवं प्रवदेत इत्यस्य प्रावदत् इत्यर्थः । पुरा सृष्ट्यारम्भ एव, तां ब्रह्मविद्यां ब्रह्मणा प्रोक्तां विद्याम् , अङ्गिरे अङ्गिरभिधानाय ऋषये अथर्वा उवाच । स अंगिः भारद्वाजाय भरद्वाजस्य अपत्यं पुमान् इति भारद्वाजः, तस्मै भारद्वाजाय भरद्वाजसूनवे, सत्यवहाय एतन्नाम्ने प्राह, भारद्वाजः अङ्गिरसे ब्रह्मणस्तृतीय पुत्राय अङ्गिरोनाम्ने । कां प्राह ? अतो विशिनष्टि ब्रह्मविद्याम् , परावराम् परं सगुणं ब्रह्म अवरं निर्गुणं ब्रह्म च प्रतिपाद्यतया स्तो यस्यां सा परावरा तां परावराम् , यद्वा परं ब्रह्म विधेयत्वेन अवरं तद्व्यतिरिक्तं जगत्प्रपञ्चम् निषिद्धत्वेन प्रतिपादितं यस्यां सा परावरा तां परावराम् ।।श्रीः।।

अथ शौनकप्रश्नं संकेतयति—

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः प्रपच्छ ।
कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ।।३।।

अधुना प्रश्नप्रकारं प्राह-ह वै इति निश्चयार्थौ निपातौ प्रसिद्ध्यर्थौ वा, प्रसिद्धमेतत् यत्—महाशालः यद्यपि महाशाल शब्दस्य पूर्वव्याख्याकारः महागृहस्थ इत्यर्थमाहुः वयं तु शब्दप्रमाणकाः अतो व्युत्पत्तिं दर्शयामः एवम्—महती विशाला शाला निवासभवनं यस्य स महाशालः शालायां हि महत्वं गृहस्थस्य महत्वम् , यद्वा महत्यश्च ताः आशाश्च इति महाशाः ताः लाति आनयतीति महाशालः अनेकाशायुक्त इति भावः । आशाबन्धोनाम गृहस्थाश्रमः, स निरन्तरं पुत्रकलत्रपौत्रधनधान्यसम्मानप्रतिष्ठाद्याशाशतेन बद्धस्य स्वान्तं शान्तिं नानुभवति तस्मान्महाशालशब्दः महागृहस्थार्थकः । एवं सन् दुराशाबन्धादुपरतः, अङ्गिरसं सत्यवहशिष्यम् विधिवत् समित्पाणिः सन् उपसन्नः बहुमानपुरस्सरं समुपेतः, पप्रच्छ पृष्टवान् । गीप्साञ्चकार इति भावः । भगवः हे भगवन् ! नो निश्चयेन, कास्मिन् तत्त्वविशेषे, विज्ञाते विज्ञानविषयीकृते, इदं प्रत्यक्षात्मकं, सर्वं सकलं प्रपञ्चम् , विज्ञातं भवति साधकेनेति शेषः । आशयोऽयम्—न हि क्षोदीयान् जीवः समस्तेन स्वजीवनकालेनापि सम्पूर्णचराचरं विज्ञातुं शक्नोति । अतः कदाचिच्छ्रुतं यदि एकस्य विज्ञानेन सर्वस्व विज्ञानं भवति, यथा मूलसेकेन पत्रसेको जायते । तत् किं विज्ञेयं तत्त्वं कृपया निगदतु भवान् इति प्रश्नाशयः ।।श्रीः।।

अथ प्रश्नस्योत्तरोपक्रमे परापरविद्ययोः उद्देश्यतः कीर्तनं करोति—

तस्मै स होवाच । द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो विदन्ति परा चैवापरा च ।।४।।

तस्मै शौनकाय ह निश्चयेन सः अङ्गिरा उवाच—इति इत्थं ब्रह्मविदः ब्रह्म विन्दन्ति प्राप्नुवन्ति इति ब्रह्मविदः प्राप्तब्रह्मतत्वाः विदन्ति जानन्ति, स्म दृढत्वे । परा एतन्नाम्नी, अपरा इमे द्वे विद्ये वेदितव्ये ज्ञातव्ये । नन्विदं विपरीतमुत्तरं, शौनकप्रश्नानुसारेण ब्रह्मविज्ञानमेव तेनोत्तरणीयं किन्तु आम्रान्पृष्टः कोविदारानाचष्टे इतिवत् विद्याद्वयं वर्णयति ? नैष दोषः, सोपानारोहणन्यायेन पूर्वं द्वे विद्ये चर्चनीये पश्चादपरां निरस्य पराविद्यायां ज्ञातायामेव ब्रह्मतत्वं ज्ञास्यते तस्मिन्नेव विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भविष्यतीति शाखापत्रन्यायेन शनैः शनैः उत्तरमभियाति ।।श्रीः।।

इदानीमपरां पराञ्च विशिनशिष्ट—

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरूक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ।।५।।

तत्र परापरयोर्मध्ये अपरा विद्या ब्रह्मातिरिक्तविषया दशविधा ऋग्वेदः ऋचांवेदः, यजुर्वेदः यजुषां यज्ञसम्बन्धिनां वेदः, सामवेदः साम्नाम् उद्गीथादिमन्त्रगीतानां वेदः, अथर्वणः युद्धसम्बन्धिवेदः इति चत्वारो वेदाः, षडङ्गानि - शिक्षा स्वरोच्चारणप्रक्रिया, कल्पः वैदिकमंत्रप्रयोगविचारः, व्याकरणं शब्दसाधुत्वप्रतिपादकशास्त्रं, निरूक्तं वैदिक-शब्दव्युत्पत्यर्थविचारः, छन्दः गायत्र्यादिछन्दोवर्णमात्राविचारः, ज्योतिषं श्रुतिसंकेतितमुहूर्तविचारः इति अपरा विद्या इयमेव दशभेदवती अपरा । अथ अनन्तरं यया विशेषविद्यया, तदक्षरं सर्वव्यापकमधिगम्यते सामीप्येन प्राप्यते सा परा विद्या । अथ वेदचतुष्टयमपराविद्याकक्षौ निवेशितम् , परायाः विद्यायाश्च उपनिषत्प्रतिपादितत्वं तासां वेदचतुष्टये एवान्तरभाव इति विषमोपन्यासः, यदि परात्वेनोपनिषदां संकीर्तनं तदा वेदबहिर्भूतत्वेनावैदिकत्वमूलकाप्रामाण्यापत्तिः वेदान्तर्गतत्वे तास्वपरात्वापत्तिरिति उभयतः पाशारज्जुः उच्यते । तत्र वेद शब्देन ज्ञानकाण्डव्यतिरिक्तवेदराशिः गृहीतव्यः । ज्ञानकाण्डीयस्य तु परात्वेन विवक्षणात् विशेषविहितत्वेन ब्राह्मणवशिष्ठन्यायानुसारं वैदिकत्वेऽपि पृथगुपादानं वैशिष्ट्यञ्च सूचनायेति विरम्यते ।।श्रीः।।

अथ कीदृशं तदक्षरमित्यपेक्षायामाह—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम् ।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ।।६।।

तदक्षरं कीदृशमतो निरूपयति–यत्तत्छब्दोऽयं ब्रह्मणोऽनिर्वचनीयत्वपरः अद्रेश्यं न द्रुष्टुं शक्यम्, अतएव अग्राह्यम् अन्यज्ञानेन्द्रियैरिति शेषः, अगोत्रम्, नास्ति गोत्रं

यस्य तत् सर्वेषामुत्पादकत्वात् गोत्ररहितम्, अवर्णम् नास्ति वर्णविशेषो यस्य तत् अस्मदादिवत्वर्णरहितम् यद्वा अनुपमः वर्णः श्यामवर्णः यस्य तथाभूतं, न विद्यमाने चक्षुश्श्रोत्रे यस्मिन् तत् अचक्षुःश्रोत्रं ज्ञानेन्द्रियातीतं तत्, यद्वा अनुपमे चक्षुश्रोत्रे यस्य तत्, अपाणिपादं नास्ति पाणिपादं यस्य तादृशं कर्मेन्द्रियातीतम् अथवा अनेकानि पाणिपादानि यस्य तत्, एवमचक्षुरित्यत्रापि व्याख्यातव्यम्, एवं नित्यं ध्वंसरहितं, विभुं विविधः कच्छमत्स्सवाराहादिरूपो भवतीति विभुः तम् , सुसूक्ष्मं सूक्ष्मशरीरतोऽपि सूक्ष्मतरम्, अव्ययम् अनश्वरं, भूतयोनिं समस्तप्राणजनकं धीराः पराविद्योपासकाः परिपश्यन्ति परितो नयनविषयं कुर्वन्तीति भावः । यत्रु दृशेर्ज्ञानार्थत्वमालपन्ति तद् भगवत्पदपद्मविमुखानाम् अलब्धपरमेश्वरसाक्षात्कारसौभाग्याणां नयननैष्फल्य-परिणामभूतम् ।।श्रीः।।

पूर्वमन्त्रे तदव्ययं भूतयोनिमिति प्रोक्तम् , सः परमात्मा भूतानि कथं जनयति ? किं कञ्चित्सहायमपेक्षते उताहो सहायनिरपेक्षम् ? इति जिज्ञासायामाह, यथेत्यादि—

यथोर्णनाभिः सृजते गृहणते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ।।७।।

अत्र दृष्टान्तत्रयेण सृष्टिकरणे परमात्मनः स्वातन्त्र्यं कथयति–यथा ऊर्णनाभिः लूताकीटः स्वयमेव तन्तून् स्वमुखतः सृजते पश्चात् गृहणते आदत्ते तथैव अक्षरमिदं जगन्मुखरूपमायातः संसारमिमं रचयति प्रलये स्वयमेव विलापयति । अपरं दृष्टान्तमाह यथेत्यादि, यथा पृथिव्यां भूमौ औषधयः सम्भवन्ति तथैव परमात्मनोऽपि संक्ल्परूपबीजानुसारं तत्तच्छरीराणि प्राप्नुवन्ति । तृतीयं दृष्टान्तमाह—यथा सतः अस्तित्ववतः पुरुषात् विनाशीनि केशलोमानि सम्भवन्ति अर्थात् चेतनात् जडरूपाणि जायन्ते तथैव अक्षरात् क्षरणवर्जितात् परमात्मनः इह अस्मिन् संसारे विश्वं प्राणिजातं सम्भवति । अत्र प्रथमदृष्टान्तेन तस्माज्जातत्वे सति तत्रैव लय उक्तः । द्वितीयदृष्टान्तेन कर्मफलानुसारशरीरसम्भव उक्तः । तृतीय दृष्टान्तेन नित्यादनित्योत्पत्तिरुक्ता । अत्रैव ब्रह्मणो जगदभिन्ननिमित्तोपादानत्वमुक्तम् । पुनरपि तं प्रसङ्गमेवं चर्चयति—

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ।।८।।

तपसा, सङ्कल्पेन तपः शब्दोऽत्र सङ्कल्पवाची **एकोऽहं बहु स्यां प्रजायै** इत्याकारकेण । चीयते, चयनविषयः क्रियते ब्रह्म परमेश्वरः, ततः अन्नम् अदनीयं

हिरण्यगर्भः यद्वा अत्ति इति अत् तं नयति स्वकीयहृदये स्थापयति इत्यन्नं तपः तस्मदभिजायते नाभिकमलादभिव्यक्तो भवति, तस्मात्प्राणः संजीवनशक्तिः, तस्मान्मनः सङ्कल्पात्मकं, तस्मात् सत्यं ब्रह्मलोकः, तस्मांल्लोकाः, भूर्लोकादयः तेभ्यः कर्मविहितं निषिद्धं च तेभ्यः अमृतं कर्मफलम् ।

अथ प्रकरणमुपसंहरन्नाह, यः इत्यादि—

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते ।।९।।

यः सर्वज्ञः सर्वं जानाति तथाभूतः स सर्ववित् विशेषरूपेण सर्वेषां शुभाशुभं वेत्ति स सर्ववित् यद्वा सर्वाणि प्राप्तव्यानि विन्दति लभते सर्वेषु चिदचिदात्मकेषु विशिष्टाद्वैतं सद् विद्यते इति सर्ववित् । अथवा सर्वान् विङ्क्ते इति सर्ववित् । कथमिदमित्यत आह—यस्य, परमात्मनः तपः सङ्कल्पः ज्ञानमयं ज्ञानरूपं विज्ञावैव सर्वाणि जीवानां शुभाशुभानि रचयतीति भावः, तस्मादेव, परमेश्वरात् एतद् दृश्यमानम् कालेनादनीयं नामरूपं नामरूपात्मकं यद्वा नाम्नैव रूप्यते बोध्यते इति नामरूपं ब्रह्म, हिरण्यगर्भाख्यं जायते प्रादुर्भवति ।।श्रीः।।

।। इति प्रथमखण्डः ।।

।।श्री राघवोः शन्तनोतु।।

।। द्वितीयखण्डः ।।

अधुना प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रपत्तिभेदत्रितयधर्मभाजां श्रुतिः सामान्य मुपदेशमाह-

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि । तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके ।।१।।

यत्तदोर्नित्यसापेक्षत्त्वादिहत्यस्तच्छब्दः पूर्वशकलचरममन्त्रोक्तयच्छब्दं परामृशयति । सर्वज्ञात् सर्वविदः परब्रह्मणः सकाशात् अभिन्ननिमित्तोपादानात् यन्नामरूपात्मकं जगत् यच्च भोग्यमन्नं अजायत, तदेवैतत् विदचिदात्मकं जगत् सत्यं मिथ्यात्ववर्जितम् । एवं सत्यस्य जीवजगतः करणीयत्वेन विहितानि तानि यज्ञरूपाणि त्रेतायां कर्मप्रधाने युगे अनेकधा सन्ततानि, तानि स्व-स्ववर्णानुसारं नियतानि विधेतया निश्चितानि आचरथ आदरेण अनुतिष्ठत । आचरथ इति **व्यत्ययात्** विधिमूलक लोडर्थे लट् लिङर्थे वा । यतो हि वः युष्माकं कृते लोके संसारे सुकृतस्य सत्कर्मणः एष एव पन्थाः अयमेव मार्गः ।।श्रीः।।

अथ त्रेतायुगस्य धर्मस्वरूपां कर्मकाण्डप्रक्रियां वेदान्तस्य पूर्वपक्षभूतां मीमांसामयीं वर्णयति पञ्चभिर्मन्त्रैः —

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने ।
तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीः प्रतिपादयेत् ।।२।।

यस्मिन् समये इन्धनैरिद्ध्यमाने अग्नौ अर्चिः ज्वाला लेलायते खेलेत् चञ्चलितं भवेत् । तदैव आज्यभागौ आज्यं घृतं तस्य भागौ अंशौ अन्तरेण त्यक्त्वा इह **अन्तरान्तरेण युक्ते** पा०अ० २-३-४, इत्यनेन द्वितीया। घृतभागयोर्मध्ये आहुतीर्निक्षिपेत्, अनेकदेवतोद्देश्यतया प्राशस्त्याद् वा बहुवचनम्। लेलधातुश्चलनार्थश्छान्दसः। 'व्यत्यात् लिङर्थे लट् ।।श्रीः।।

अथाग्निहोत्रे पूर्वभावनां दर्शादीनामानिवार्यतां वर्णयति—

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च ।
अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुतमासप्तमांस्तस्य लोकान् हिनस्ति ।।३।।

दर्शश्च पौर्णमासश्च चातुर्मास्यमथापि वा ।
आतिथेयं तथा वैश्वदेवहोमविधानकम् ।।

त्यक्त्वैव संविधीयेत शास्त्रमात्राविवर्तिना ।
आसप्तान् तस्य लोकान् वै अग्निहोत्रं विनाशयेत् ।।

साम्प्रतं लेलायमानायाः अग्निज्वालायाः जिह्वारूपिणीः सप्तावस्थाः वर्णयति —

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा ।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरूची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ।।४।।

मनोवत् जवः वेगः यस्याः सा मनोजवा शेष सुगमम् ।।श्रीः।।

अथ सम्यगाहुतिददानस्य फलं वर्णयति —

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन् ।
तं नयन्त्येता सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ।।५।।

एवं भूतेषु भ्राजमानेषु शोभमानेषु यः आहुतीः निक्षिपति, तम् आजुह्वतम् आहुतयः अभिसूर्यरश्मिदेवाः भगवत्परिकराः नमन्ति ।।श्रीः।।

पुनः फलमग्रे वर्णयति —

एह्योहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति ।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ।।६।।

यः सम्यगाहुतिं ददाति तम् एहि-एहि आगच्छ आगच्छ इति कथयन्त्य आहुतयः यजमानमाहवयन्ति । ब्रह्मलोकं च नयन्ति । एवमग्निहोत्री ब्रह्मलोकाधिकारी भवतीति हार्दम् ।।श्रीः।।

एवं मन्त्रपञ्चकवर्णितकर्मकाण्डे अनाशक्तिमुत्पादयितुमुत्तरमीमांसा प्रकरणमारभ्यते —

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ।।७।।

हि शब्दः अरूचिबोधकः यत्र षोडशऋत्विजः यजमानस्तत्पत्नी चेति अष्टादशजनैः कर्म निर्वर्त्यते, तच्च ज्ञानरहितं सत् नितरामवरं निन्द्यम् । तादृक्कर्मसमन्विताः यज्ञा रूपाणि येषां ते यज्ञरूपाः अदृढाः क्षणभङ्गुराः प्लवाः संसारसिन्धुतरणाय गृहीताः पोताः, ये सामान्यैरपि तरङ्गैः भवसागरे मग्ना भवेयुः । दृढप्लवस्तु भगवच्चरणारविन्दरूपः भगवत्तत्वज्ञानाख्यो वा प्लवः । यथोक्तं श्रीगीताभागवतमानेषु —

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सतव्यिसि ।

(गीता ४/३६)

प्रषतपालभवाब्धिपोतम्

(भागवत ११-५-३५)

यत्पादप्लवमेक मेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम्

(मानस १-मंगलाचरण-६)

एवं विधं भवसागरभङ्गुरप्लवरूपं यज्ञमयं कर्म ये मूढाः अभिनन्दन्ति, मीमांसा–वासनया श्रेयोबुद्ध्या समाचरन्ति प्राप्नुवन्ति । तस्मात् कर्ममलभङ्गसाधनतयैवानुष्ठेयं, न तु श्रेयस्तयेति श्रौतं हार्दम् ।।श्रीः।।

भूयोऽपि कर्मासक्तधियो निन्दति श्रुतिः -

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ।।८।।

अविद्यायामित्यौपश्लेषिकी सप्तमी । आत्मानमेव धीरं मन्यमानाः अपण्डिता अपि आत्मानं पण्डितं जानन्तः, अविद्यायां-पूर्वोक्तमन्त्रपञ्चकवर्णितकर्मासक्तया पञ्चपर्वाविद्यासमुपश्लिष्टाः अन्तरे संसारसागरमध्ये वर्तमानाः कामक्रोधादिशत्रुभिः जङ्घन्यमानाः पुनः पुनरतिशयेन हन्यमानाः अन्धेन दृष्टिहीनेन नीयमानाः मार्गं गम्यमानाः अन्धा इव, गृहासक्तेन देशिकेन समुपदिश्यमानाः अत एव अन्धाः ज्ञानवैराग्यनेत्रहीनाः

मूढाः मोहमहोदधिमीनायमानाः परियन्ति भूयः संसारवारान्निधौ निमज्जन्ति । अतः श्रोत्रियो ब्रह्मनिष्ठः सद्गुरुः श्रयणीय इति हार्दम् ।।श्रीः।।

संसारसागरपतनहेतुमाह -

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ।।९।।

यत् यतो हि बहुधा बहुभिः प्रकारैः अविद्यायां विद्याविरोधिभावनायां वर्तमाना अज्ञानान्धकारे तिष्ठन्तः, अत एव बालाः अनधिजिगमिषितवेदान्तरहस्याः, वयं कृतार्थाः विहितभगवत्साक्षात्कारोपायाः इति अभिमन्यन्ते अभिमानयुक्ताः भवन्ति । ते कथं ब्रह्म न जिज्ञासन्ते ? इति हेतुं स्पष्टयति । यतोहि ते कर्मिणः कर्मशब्दोऽजन्तः कर्म-कर्मे-कर्माणीति, न तु नान्तः । अतस्तस्माददन्तलक्षण इनिः । कर्मासक्तास्ते कर्मसु रागात् आसक्ति मूलाद्धेतोः न प्रवेदयन्ति नैव ब्रह्म जानन्ति । तेन तस्मादेव हेतोः क्षीणः नष्टाः लोकाः कर्मचिताः स्वर्गादयो येषां ते क्षीणलोकाः च्यवन्ते स्वार्गात् च्युताः भवन्ति ।

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति (गीता ९-२१) इति स्मृतिरपि ।।श्रीः।।

भूयोऽपि कर्मासक्तदशां विगर्हयति —

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ।।१०।।

इष्टं श्रौतंकर्म, पूर्तं वापीकूपादिनिर्माणं, इष्टा च पूर्तं च इष्टापूर्तं **अन्येषामपि दृश्यते** पा० अ० ६-३-१३७ इत्यनेन इष्टशब्दघटकस्य ह्रस्वाकारस्य दीर्घः । तमिष्टापूर्तं श्रौतं स्मार्तं कर्म, वरिष्ठम् अतिशयेन वरं मन्यमानाः अत एव प्रमूढाः मीमांसावासनामलिनमनसः एतस्मादन्यत् श्रेयः न वेदयन्त न जानन्ति । तस्मान्नाकस्य पृष्ठे सुकृते अत्र छान्दसी द्वितीयार्था सप्तमी । एवं सुकृते अत्र छान्दसी द्वितीयार्था सप्तमी । एवं सुकृतपरिणामं भुक्त्वा पुनः पुण्यावसाने इमं मर्त्यलोकं, इतोऽपि वा हीनतरं नरकादिकं विशन्ति प्रविशन्ति । इदमेव समनुवदति भगवान् गीतासु -

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापाः यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ।।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ।।

(गीता - २०, २१) ।।श्रीः।।

अथ एतद्व्यतिरिक्तपरिव्राजकगतिं स्तौति -

**तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजा प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरूषो ह्यव्ययात्मा ।।११।।**

हि शब्दो विकल्पानुवादकः, हि एतद् व्यतिरिक्ताः ये अरण्ये गृहं त्यक्त्वा तपःश्रद्धे सात्विकतपः सात्विकीं श्रद्धां च उपवसन्ति अनुतिष्ठन्तस्तिष्ठन्ति । अत्र शान्ताः शमशीलाः विद्वांसः ब्रह्मविद्वरिष्ठाः भैक्ष्यचर्यां भिक्षुवृत्तिं चरन्ति, भिक्षुवृत्त्या जीवनं यापयन्ति । ते परमहंसपरिव्राजकाचार्यास्त्रिदण्डिनः विरजाः रजोरहिताः सूर्यद्वारेण सूर्यमण्डलं भित्वा तमेवलोकं प्रयान्ति, यत्र अव्ययात्मा अव्ययः अविनाशी आत्मा देहः यस्य स अव्ययात्मा दिव्यशरीरः पुरुषः पुराणपुरुषोत्तमः श्रीरामः यत्र साकेते विराजते, स एव साकेतलोकः अस्य निवासस्थानं भवति ।।श्रीः।।

अथोसत्तिप्रकारमाह —

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन । तद्विज्ञानार्थं स गुरूमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।।१२।।

कृतेन इति सप्तम्यर्थे तृतीया । कृतेन शुभाशुभकर्मनिर्मितेऽस्मिन् संसारे, अकृतः कृतम् अनित्यं तद्भिन्नः अकृतः नित्यः परमात्मा नास्ति न मिलति, न विद्यते **जगदिदं तस्य शरीरम्** इत्थं कर्मचितान् कर्मनिर्मितान् लोकान परीक्ष्य परितो विभाव्य ब्राह्मणः ब्राह्मण्यां ब्राह्मणेन ग्राहितजन्मा, निर्वेदम् आयात् संसारसागरतो विरज्येत् तद् विज्ञानार्थं तस्य ब्रह्मणः विशिष्टाद्वैतरीत्या ज्ञानार्थं स मुमुक्षुः समित्पाणिः समिधं हस्ते गृहीत्वा, श्रोत्रियं ब्राह्माणाद् ब्राह्मण्यां जायमानं यथासमयं संस्कृतं स्वाध्यायमधीयानं समस्तवेदशास्त्रपारगम् एवं विधं गुरूमेव, नान्यमभिगच्छेत् । अत्र एवकारः त्रिः प्रयुक्तः यथाक्रमं अन्य योगायोगात्यन्तायोगान् व्यवच्छिनत्ति । स एव गच्छेत् नान्यः गुरुमेव गच्छेन्नागुरुं, गच्छेदेव न तिष्ठेत् ।।श्रीः।।

अथ वेदान्ताध्यापनप्रकारमाह—

**तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमन्विताय ।
येनाक्षरं पुरूषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्वतो ब्रह्मविद्याम् ।।१३।।**

स विद्वान् विदितवेदान्तविद्यः, तस्मै उपसन्नाय निजचरणशरणमीयुषे, सम्यक् प्रशान्तचित्ताय प्रशान्तं चित्तं यस्य तथाभूताय, शमेन शान्त्या युक्ताय, एवं भूताय. येन वेदान्तेन सत्यं सद्भ्यो हितम् अक्षरम् अविनाशिनं पुरुषं, अथवा अं विष्णुमपि क्षरति इत्यक्षरं, यद् वा अः विष्णुः क्षीयति निवसति वक्षोऽवच्छेदेन यस्यां तादृशीं वात्सल्यमयीं ब्रह्मविद्यां तत्वतः इह तृतीयार्थे तसिः । तत्वतः इत्यस्य तत्वैरित्यर्थः

एवम् अचित् -चित् -तत् परीभूतरूपै: जडचेतन तद् विलक्षणैः प्रकृतपुरुषपरमात्मभिः जगज्जीवजगदीश्वरैः सहितां ब्रह्मविद्यां, ब्रह्माप्रापिकां विद्यां, ब्रह्मरूपिणीं विद्यां, ब्रह्मनिर्णयां विद्यां, ब्रह्मानन्दवर्षिणीं विद्यां प्रोवाच वदेत् । अत्र ''व्यत्ययात् '' लिङर्थे लट् ।

अत्रेदमवधेयम् इहत्य प्रकरणेन श्रुत्या स्वयमेवाद्वैतवाझञ्झघाडम्बरं मेयेव निराकृतम् । यदि ब्रह्मजीवयोरैक्यं स्यात्, तर्हि कः कस्मै ब्रह्मविद्यां प्रवेदत् ? एकस्मिन् ब्रह्मतत्वे निर्धारिते ब्रह्मणः प्राप्त्यभावे तत्प्रापकब्रह्मविद्यायाः मोद्य इव समारम्भः, यदि चेत् कल्पितोऽयं भेदः ततो ब्रह्मणि ज्ञानस्वरूपे महाभाष्करे कुतोऽयं क्षोदिण्ठोऽज्ञानान्धकरः । यदि चेत् तदपि मिथ्यैव गुरुशिष्यपरम्परारिरक्षिषया, तर्हि व्याहतो भूतार्थवादः श्रुतीनाम् । तस्मात् -

जीवनित्यो ब्रह्मनित्यं नित्या सम्बन्धना तयोः ।
दासभूतः सदाजीवो ब्रह्मस्वामी सदाश्रुतः ।।

चिदचिद्भ्यां विशिष्टं तद् ब्रह्माद्वैतं निगद्यते ।
विशिष्टद्वैतवादोऽयमाम्नायो नः श्रुतः स्मृतः ।।

शरीरे जीवजगती शरीरिब्रह्मराघवः ।
इत्येव तत्र सम्बन्धः श्रुतिस्मृतिसमीरितः ।।

अविनाभाव एवासौ विशेषणविशेष्ययोः ।
कारणं कार्यमित्येव द्विधा ब्रह्म प्रकीर्तितम् ।।

विशिष्टं च विशिष्टं च चिदचिद्भ्यां सदैव ते ।
विशिष्टे ब्रह्मणि ज्ञेयमद्वैतं नितरां तयोः ।।

विशिष्टाद्वैतमित्याहुः प्रमाणत्रितयान्वितम् ।
प्रत्यक्षमनुमानं च शाब्दमित्यवधार्यताम् ।।

सत्कार्यवाद एवात्र ह्यचिदंशसमाश्रितः ।
ब्रह्मपरिणामवादोऽपि प्रपत्तिश्चात्रजीवनम् ।।श्रीः।।

इति श्रीरामानन्दाचार्य स्वामिराभद्राचार्यप्रणीतं मुण्डकोपनिषदि प्रथममुण्डकं सम्पूर्णम् ।

।। श्री राघवोः शन्तनोतु ।।

।। अथ द्वितीयमुण्डके प्रथमखण्डः ।।

अथाशेषजगतामभिन्ननिमित्तोपादानकारणतया ब्रह्म निर्वक्ति —

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ।।१।।

हे सोम्य ! यथा येन प्रकारेण सुदीप्तात् जाज्वल्यमानात् पावकाद् अग्नेः सरूपाः समानरूपवन्तः सहस्रशः अनेके स्फुलिङ्गाः प्रभवन्ति । यथा एवमेव अक्षरात् परमात्मनोऽपि तदंशका अणवः अनेके भावाः जीवाख्याः जायन्ते । इत्येन जीवबहुत्वम् अणुत्वं ब्रह्मणोऽभिन्ननिमित्तोपादानकारणं च सूचितम् ।।श्रीः।।

अथ जीवाभिन्ननिमित्तोपादानकारणभूतस्य ब्रह्मणो जीवजगद्भ्यां वैलक्षण्यं वर्णयति-

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमना शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ।।२।।

जीवतो ब्रह्म विलक्षणं, जीवः लौकिकः, भगवान् दिव्यः अप्राकृतः । मूर्च्छन्ति प्रसरन्ति कामक्रोधदयो यस्मिन् स मूर्तः जीवः, परमात्मा ततो विलक्षणः तस्मादमूर्तः । बाह्यं बहिर्जगत् , प्रत्यक्षमं आभ्यन्तरं परोक्षजगत् , यद् वा बाह्यं प्रत्यक्षप्रमाणं, आभ्यन्तरं अनुमानं शाब्दं च ताभ्यां बाह्यान्तराभ्यां सह वर्तमानः स बाह्याभ्यन्तरः । यद् वा भक्तेच्छया बाह्यैः चक्षुरादिभिः, आभ्यन्तरैः मनःप्रभृतिभिः सह वर्तमानः सबाह्याभ्यन्तरः, इत्यनेन ब्रह्मणो निराकारतां जल्पन्तः परास्ताः । ननु बाह्याभ्यन्तरसहितः किं जायते ? इत्यत आह—हि निश्चयेन अजः, अत एव अप्राणः प्राणभिन्नः अमनाः मनो भिन्नः अनिन्द्रियत्वात् । तर्हि कथं सबाह्याभ्यन्तररः ? तत्र दिव्यकरणवत्वस्य विवक्षणेनादोषात् । यद् वा अमनाः इत्यस्य मानव मनः संकल्पातीत इत्यर्थः । त एव तैत्तिरीये ।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह

(तै०उ०२-९)

अतः शुभ्रः निर्दोषः, पुरुषः पुरि जीवशरीरे शेते अन्तर्यामितया तिष्ठति इति पुरुषः, अक्षरात् जीवात् परतः परीभूत मायातोऽपि परः परमाक्षरः पुरुषोत्तमः ।।श्रीः।।

अथ जीवभोग्यपदार्थानां परमात्मनः सकाशादुत्पत्तिमाह -

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ।।३।।

एतस्माद् ब्रह्मणः सकाशात् प्राणमनःसर्वेन्द्रियाकाश वाय्वग्निजलभूमयो जायन्ते। तृतीयस्माच्च मन्त्रात् अचिद्वर्गस्य उत्पत्तिमुक्त्वा श्रुतिः अचितिविशेषणे परिमणाममाह ।।श्रीः।।

अथ जगतः भगवता सह शरीरशरीरिभावः प्रोच्यते—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्या पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ।।४।।

एषः सर्वभूतानाम् अन्तरात्मा शरीरी, अस्य भगवतः अग्निः मूर्धा शिरः, चन्द्रसूर्यौ चक्षुषी नेत्रे, श्रोत्रे कर्णे दिशः पूर्वादयः, विवृताः विविध शाखासु विस्तृताः वेदाः षडङ्गाः, वाक् वाणी, वायुः भगवतः प्राणः, विश्वं जगत् ,यद्वा विश्वात्मकमाकाशं हृदयं, पद्भ्याम् अत्र प्रथमार्थे पञ्चमी । चरणावेव भगवतः पृथिवी, इयमेव श्रुतिः भगवतो जगच्छरीरत्वे परमं प्रमाणम् ।।श्रीः।।

अथ ब्रह्मणः सकाशात्प्रजोत्पत्तिमाह -

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम् । पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात्सम्प्रसूताः ।।५।।

सूर्यो भगवान् भाष्करः यस्य समिधः, यत्सम्बन्धि प्रकाशवान् येन समिध्यते तादृगग्निः तस्मात् भगवत एव उत्पद्यते, पुनश्च तस्माद् द्वितीयः अग्निः सोमः, ततः तृतीयश्च आहुत्यधिकरणविशेषः पर्जन्यः, ततश्च ओषधयः, ततः पुरुषः स च योषिति गर्भमाधत्ते इति सम्पूर्णप्रजानां भगवानेव अभिन्ननिमित्तोपादानम् ।।श्रीः।।

अन्यदपि कर्मकाण्डसम्बन्ध्युपकरणं भगवत इत्यत आह -

तस्मादृचः सामयजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च ।
संवत्सरश्च यमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ।।६।।

यस्मिन् भगवति सोमः यत्र च सूर्यः सर्वं पुनाति तस्माद् भगवतः वेदत्रयी दीक्षा, यज्ञादयः लोकपर्यन्ताः परमेश्वरादेव जायन्ते ।।श्रीः।।

अथ देवादीनां भगवत उत्पत्तिं वर्णयति -

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि । प्राणपानौ ब्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ।।७।।

बहुधा अनेक प्रकारका: देवा:, वयांसि पक्षिण:, श्रद्धा आस्तिक बुद्धि, सत्यं यथार्थ भाषणं, ब्रह्मचर्यं अष्टविधव्यवायपरिहार:, विधि: अनुष्ठानम् इमे सर्वे भगवत एव प्रसूता: ।।श्री:।।

अथ प्राणादीनामपि उत्पत्तिं भगवत: प्राह -

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः ।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिता सप्त सप्त ।।८।।

इह प्राणशब्देन जीवनोपकरणानि गृह्यन्ते, सप्तप्राणा: पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्च, सप्तार्चिष: तेषां सप्तविषया: दर्शनस्पर्शश्रवणरसनघ्राणमननाध्यवसाया:, एवमेव तेषां सप्तहोमसम्बन्धिन: समिध:, भगवति सप्तप्रकारका: लया:, येषु गुहाशया शरीरे विराजमाना: सप्त सप्त ऊनपञ्चाशत् मरुत: येषु चरन्ति ते इमे सप्तलोका: भूरादयो भगवत उत्पन्ना: ।।श्री:।।

परिशेषमपि जगज्जातं भगवत उत्पन्नमित्य आह -

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः ।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ।।९।।

अस्मादेव जगदभिन्ननिमित्तोपादानात् समुद्रादय: उत्पद्यन्ते । सिन्धव: नद्य: ओषधय: येन रसेन भूतै: सह अन्तरात्मा अन्तर्यामी परमात्मा तिष्ठते स रसोऽपि परमात्मन एव ।।श्री:।।

पारिशेष्यमाह -

पुरूष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् ।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य ।।१०।।

हे सोम्य ! पुरुष एव इदं विश्वं, शरीरत्वात् समानाधिकरणं, यथा शरीरे ताड्यमाने जन: स्वताडनं मन्यते, कर्णे वधिरे अहं वधिर:, वाचि मूकायाम् अहं मूक: इति शरीरेऽप्यामत्मव्यवहार:, तथैव विश्वेऽपि पुरुषसामानाधिकरण्यम् । एवं पुरुषात्मकं कर्म वेद: तदात्मक: उत्कृष्टममृतमपि भगवदात्मकम् । एवं विधं चिदचिद्विशिष्टं गुहायामन्त:करणे निहितं विराजमानं य: वेद स: अविद्याग्रन्थिं विकिरति नाशयति ।

विशिष्टाद्वैत रीत्यैव विशिष्टाद्वैतभावनो ।
विशिष्टाद्वैतमासेव्य विशिष्टः स्यान्न संशयः ।।श्रीः।।

इति द्वितीयमुण्डके प्रथमखण्डः

।। राघवः शन्तनोतु ।।

।। अथ द्वितीयखण्डः।।

अथ सकलजगदभिन्ननिमित्तोपादानं विशिष्टद्वैतवेद्यं कार्यकारणात्मकं ब्रह्म श्रुतिर्निर्दिशति-

आविः संनिहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम् । एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम् ।।१।।

श्रुतिः कथयति हे पुत्राः ! यद् गुहायां चरति इति गुहाचरं, यन्नाममहत्पदं सर्वेषां पदनीयं, यत्र परमात्मनि एतत् इदं चिदचिदात्मकम् एजत् कम्पमानम्, अचिज्जातं भोग्यरूपं प्राणत् जीवनं धारयत् चेतनात्मकं तिर्य, निमिषत् निमेषादिकं कुर्वत् मानवादिकं, समर्पितं विशेषणतया चिदचिद्रूपं यस्मिन् समर्पितसत्ताकम् इत्यनेन चिददितो ! विशेषणता परमात्माधीनसत्ताकत्वं च स्पष्टं प्रतिपादितम् । एवं चिदचिद् विशिष्टं सतां जीवानाम् असतां जड़ानां च वरेण्यं वरणीयं, विज्ञानात् परं प्रजानां च वरिष्ठम्, एवं भूतं सन्निहितं निजनिकटस्थम् आविः स्वसम्मुखं प्रकटं च परमात्मानं जानथ निजसेव्यत्वेन समवगच्छत । जानथ इति लोडर्थे लट् "व्यत्ययात्" ।।श्रीः।।

अथ लक्षरूपकतया ब्रह्म निर्वक्ति -

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च यस्मिंल्लोका निहिता लोकिनश्च तदेतक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः । तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि ।।२।।

यत् अर्चिमत् प्रकाशमत् यच्च जीवेभ्यो अणु, नन्वत्र कथं न तरप् प्रत्ययः ? विभज्योपपदाभवात् । **द्विवचनविभज्योपपदे तरवीयसुनौ** पा०अ० ५-३-५७ इत्यनेन तरप् द्विवचने विभज्योपपदे च । तर्हि पञ्चमी कथं ? ल्यब्लोप पञ्चम्येषा । अणून् जीवान् अपेक्ष्य अणु यथा तेषां हृदये स्थातुं शक्येत, एवं यस्मिन् लोकाः लोकिनश्च भूरादय इन्द्रादयः निहिताः तदेव ब्रह्म सत्यं, तदमृतं मरणवर्जितं, तदेव वेद्धव्यं आत्मना सह संयोज्यम् । हे सोम्य ! इत्थं विद्धि जानीहि ।।श्रीः।।

ननु लक्ष्यवेधाय धनुर्बाणावपेक्ष्येते तत्र सन्धानं कथं स्यात् ? इत्यतो रूपयति -

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत ।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ।।३।।

उपनिषत्सु दृष्टम् औपनिषदं प्रणवाख्यं धनुः उपासनया निशितं तीक्ष्णधारीकृतं प्रत्यगात्मरूपं शरं गृहीत्वा ब्रह्मभावगतेन चेतसा आयम्य श्रवणपर्यन्तं विधाय सन्दधीत

सन्धान विषयं कुर्वीत । एवं प्रणवधनुषा मुक्तेन जीवात्मशरेण अक्षरं ब्रह्मैव लक्ष्यं विद्धि, अर्थात् प्रणवयुक्तेन जीवात्मनैव ब्रह्मरूपं लक्ष्यं वेद्धव्यम् ।।श्रीः।।

तदेव स्पष्टयति -

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्म ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ।।४।।

हि यतः प्रणव ओंकार एव धनुः, आत्मा मुमुक्षुर्जीवात्मा शरः, ब्रह्मसाक्षाच्चिकीर्षितव्यं तस्य जीवात्मनः लक्ष्यम् उच्यते कथ्यते । अतः अप्रमत्तेन प्रमादरहितेन साधकेन वेद्धव्यं, यथा बाणवत् जीवात्मापि तन्मयो भवेत् , ब्रह्मप्राचुर्यवान् स्यात् , ब्रह्मपरिणाममान् स्याच्च ।।श्रीः।।

भूयः शौनकं अङ्गिरा प्राह -

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ।।५।।

अङ्गिराः शिष्यान् संबोधयति, यस्मिन् ब्रह्मणि द्यौः स्वर्गं, पृथिवी अन्तरिक्षम् आकाशं प्राणैः सह मन ओतं सम्बद्धं शरीरशारीरिभावेन, तम् एव एकं प्रधानम् आत्मानं परमात्मानं जानथ अवगच्छत । एकमिति कथनेन आत्मपदवाच्योऽप्यप्रधानतया जीवात्मा व्यावृत्तः, स च विशेषणतया ह्यप्रधानः, परमात्मैव प्रधानः । यथा श्रीमानसे भगवान् शंकरः-

पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि प्रगट परावर नाथ ।
रघुकुल मनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नायउ माथ ।।

(मानस १-११६)

अन्याः परमात्मातिरिक्ताः वाचः वाणी विमुञ्चथ त्यजत । एषः परमात्मा अमृतस्य परमानन्दस्य सेतुः धारणः ।।श्रीः।।

अथ जगता सह परमात्मसम्बन्धमाह -

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः
स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः ।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं
स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ।।६।।

रथ नाभौ स्यन्दनस्य चक्रे अरा इव यथा यत्र नाड्य: संहता: सम्बद्धा: सन्ति, तमेव ओमिति मन्त्रेण आत्मानं परमात्मानं ध्यायथ ध्यानं कुरुत । तमस: अन्धकारात् परस्तात् परिभूताय व: पराय युष्माकं संसारसागरपारकरणाय स्वस्ति ।।श्री:।।

परमात्मन: प्रतिष्ठामाह -

य: सर्वज्ञ: सर्वविद्यस्यैष महिम भुवि ।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठित: ।।७।।

सर्वंजानातीति सर्वज्ञ:, सर्वं विन्दतीति सर्वविद् यस्य एष महिमारूपो भुवि विराजते । एष आत्मा परमात्मा राघवेन्द्र: दिव्ये अप्राकृते द्योतनशीले व्योमनि उपरिष्टाद् वर्तमाने महाकाशरूपे ब्रह्मण: रामचन्द्रस्य पुरं ब्रह्मपुरं तस्मिन् ब्रह्मपुरे साकेते प्रतिष्ठित: सीतया सह विराजते ।।श्री:।।

भूय: परमात्मनो भोग्यवर्गेऽपि प्रतिष्ठामाह -

मनोमय: प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय ।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ।।८।।

य: मनोमय: भक्तमन: प्राचुर्यवान् , अथवा मन इव मयते गच्छति भक्तसमीपं य: स मनोमय:, प्राण एव शरीरं प्राणशरीरं तन्नयति इति प्राणशरीरनेता स हृदयं सन्निधाय स्वमन्दिरं विधाय अन्ने भोग्यपदार्थेऽपि प्रतिष्ठित: । यद् आनन्दरूपं परमानन्दमयम् अमृतं संविभाति तदेव धीरा विज्ञानेन परिपश्यन्ति, बुद्ध्या जानन्ति । अथवा सेवकसेव्यभावज्ञानेन जानन्ति ।।श्री:।।

अथ ब्रह्मदर्शनफलमाह —

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया: ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।९।।

परै: चिद्वर्गै: जीवै: सह अवरे अचिद्वर्गा: सन्ति यस्मिन् स: परावर:, अथवा परे जीवात्मान एव अवरे विशेषणानि सन्ति यस्य इति परावर: तस्मिन् परावरे, जगज्जीव-विशेषणके परमात्मनि तस्मिन् दृष्टे अस्य साधकस्य हृदयग्रन्थि: जड़चेतनात्मिका भिद्यते नष्टा भवति । सर्व संशया: सर्वे सन्देहा: आत्मानात्मविषयका: सन्देहा: छिद्यन्ते नाश्यन्ते । तथा च अस्य जीवात्मन: कर्माणि प्रारब्धक्रियमाणसंचितानि क्षीयन्ते नष्टानि भवन्ति ।।श्री:।।

अथ ब्रह्मधाममहिमानमाह —

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
यच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ।।१०।।

हिरण्मये जाज्वल्यमाने परे कोशे साकेते यद् विरजं रजोगुणरहितं निष्कलं ब्रह्म तदेव शुभ्रं सकलदोषवर्जितम् । ज्योतिषां सूर्यचन्द्रपावकानामपि ज्योतिः प्रकाशदाता, तदेव आत्मविदः परमात्मवेत्तारः विदुः जानन्ति ।।श्रीः।।

अथ ब्रह्मधाम्नः प्रकाशकत्वमाह —

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युते भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।११।।

तत्र ब्रह्मणि सूर्यः, तारकं चन्द्रमास्तारकाश्च न भान्ति, इमाः विद्युतः न भान्ति न प्रकाशन्ते । अयमग्निः प्राकृतः कुतः केन सामर्थ्येन प्रकाशेत । तमेव परमात्मानं भान्तं प्रकाशमानमनुलक्ष्य सर्वं चिदचिदात्मकं भाति, प्रकाशितं भवति । तस्य ब्रह्मणः भासा प्रकाशेन इदं सर्वं विभाति प्रकाशते ।।श्रीः।।

अथ ब्रह्मणः सर्वव्यापकतां वर्णयति —

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ।।१२।।

इदं ब्रह्मैव पुरस्तात् मम अग्रे इदं पश्चात् पृष्ठीभागे दक्षिणतः वामतश्च अधः नीचैः ऊर्ध्वमुपरि सर्वत्रैव ब्रह्म ।। श्रीः।।

।। इति द्वितीयमुण्डके द्वितीयखण्डः ।।
।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। अथ तृतीयमुण्डके प्रथमखण्डः ।।

अथ परमकरुणाहृदया श्रुतिः परमेश्वराराधनं समुपदिदिक्षुः जीवब्रह्मणोः स्पष्टं समभिव्यनक्ति भेदं, द्वा इत्यादिना —

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।१।।

इह द्वा सुपर्णा, सयुजा, सखाया इति चतुर्षु स्थानेषु **सुपां सु लुक् पूर्वसवर्णाच्छे-या डा-ड्या-याजालः** (पा०अ० ७-१-३९) इत्यनेन पूर्वसवर्णः। द्वौ ब्रह्मजीवरूपौ द्वित्वसंख्यावच्छिन्नौ सुपर्णौ शोभनपक्षवन्तौ पक्षिणाविव वृक्षाश्रयत्वात् समानधर्मता, सयुजौ सहैव युञ्जतः इति सयुजौ सह निवासकर्तारौ, सह खेलतः, सहैव ख्यातः, सहैव खादतश्च यौ तौ सखायौ परस्परं सुहृदौ **सुहृदं सर्वभूतानाम्** (गीता ५-२९) इति स्मृतेः ।

''राम प्राण प्रिय जीवन जी के, स्वारथ रहित सखा सबही के ।।

(मानस २-७४-६)

इति मानसाच्च । समानं समानरूपेणैव वृक्षं वृश्चनधर्मत्वात् वृक्षरूपं शरीरं परिषस्वजाते अत्र परोक्षे लिट् । अनादिकालतः द्वित्वविशिष्टौ खगाविव सुहृदौ जीवात्मपरमात्मनौ शरीरवृक्षं परिष्वक्तवन्तौ बभूवतुः । तयोः जीवात्मपरमात्मनोर्मध्ये अन्यः परमात्मविलक्षणो जीवात्मा पिप्पलं शुभाशुभफलरूपं स्वादु प्रतिकूलानुकूलानुभूतिमयम् अत्ति भुङ्क्ते वृक्षासक्तत्वात् । अन्यः इतो विलक्षणः समस्तहेयगुणबहिर्भूतः सकलकल्याणगुणगणसागरः समशेषसृष्टिरचनानागरः अनश्नन् पिप्पलमखादन् कर्मविपकमभुञ्जानः अभिचाकशीति अभितः श्रीसाकेतश्रीमदयोध्यानिकेतयोः श्रीगोलोक गोकुलयोश्च श्रीरामकृष्णरूपः शोभते । अत्र ब्रह्मजीवयोः स्पष्टं भिदा। यत्तु शङ्कराचार्यः ईश्वरं सत्वोपाधिपरिच्छिन्नमाह, तथा हि तत्तत्यं भाष्यम्, **सुपर्णाविव अविकामकर्म-वासनाश्रयलिङोपाध्यात्मेश्वरौ तथा च इतर ईश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः सर्वज्ञः सर्वसत्वोपाधिरीश्वरो नाश्नाति** इति । तदसंगतम् । यतो हि ईश्वरस्य नैकमपि प्रमाणमुपाधिपरिच्छिन्नत्वे, अहो ! एकमपि प्रमाणमन्तरेणापि ईश्वरः सत्वोपधिपरिच्छिन्नः, जीवात्मा मलिनसत्वोपाधिः इति कुतः कल्पयाम्बभूविरे प्रच्छन्नबौद्धाः ।

न च

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तुमहेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ।।

श्वे० उ० ४-१०

इत्यस्ति प्रमाणमिति वाच्यम्, मायायाः उपाधिपर्यायत्वे मानाभावात्, मतुबर्थस्येनि-प्रत्ययस्य सम्बन्धेऽपिविधानेनादोषाच्च । तथा

हि-भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽति शायने ।
सम्बन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ।।

इतिभाष्यवार्तिकलिङ्गात् ।

सम्बन्धश्च नियम्यनियामकभावरूप:, न हि नियम्यो नियामकं परिच्छिनत्ति । कथमहो मेघो व्योममण्डलं परिच्छेत्तुं प्रभवेत् । किं च किं रूपस्त्वदीयोपाधि:, सत्य: असत्यो वा ? यदि सत्य: तर्हि तावकीना ब्रह्मसत्यत्वप्रतिपादनप्रतिज्ञा मोघारम्भा, त्वयैव धूलिसात्कृत: स्यात्, त्वत्प्राणबल्लभोऽद्वैतवाद: । यद्यसत्य: तर्हि तेन सत्यस्य ब्रह्मण: आवरणम् असम्भवम् । न हि असत्यजलेन मरुमरीचिकया वा तृट्छान्ति: । पुनश्च किमाश्रयोऽयमुपाधि: स्वाश्रय: पराश्रयो वा ? स्वाश्रयश्चेत् असम्भव:, नहि अति चतुरोऽपि नट: स्वेन स्वस्कन्धमारोढुमर्हति । यदि ब्रह्माश्रय: तदप्यनर्गलं नह्यन्धकार: सूर्ये स्थातुं प्रभवति, न व समिद्धपावके तूलराशि: । तस्मान्मायावादसन्निपातजल्पितमिवोपेक्ष्यं शांकरभाष्यमेतत् । इह श्रुतौ तृतीयतुरीय चरणयो: द्विप्रयोगोऽन्यशब्दस्य जीवाद् ब्रह्मण: ब्रह्मणश्च जीवस्य स्वरूपगतं परस्परं वैलक्षण्यं प्रतिपादयति, द्विर्बद्धं सुबद्धं भवतीति नियमात् । यदि भेद: स्यादौपचारिको ब्रह्मजीवयो:, तर्हि नैवान्यशब्दं द्वि: प्रयुञ्जीत श्रुति: । अन्य शब्दस्य स्वभावत: समपेक्षितावधिकत्वात् , अवद्ध्यवधिमतोश्च भेदघटितत्वस्वभावात् श्रुत्यैव साधितो ब्रह्मजीवभेद:, इति विरम्यते ।।श्री:।।

अथेदं तथ्यं भूयोऽपि स्पष्टयति —

समाने वृक्षे पुरूषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमनमिति वीतशोकः ।।२।।

समाने पूर्वोक्ते शरीररूपे वृक्षे निमग्न: मोहनिशिनिद्रित: अनीशया ईशभिन्नया, नास्ति ईश: आश्रय: यस्या: सा अनीशा तया अनीशया अविद्यया करणभूतया मुह्यमान: मोहं ब्रजन् शोचति । एतद् विपरीतं यदा जुष्टं विदचिद्भ्यां विशेषणाभ्यां सेवितं विशिष्टं च अन्यं जडचेतनाभ्यां विलक्षणं क्षराक्षराभ्यामतिरिक्तम् ईशं परमेश्वरम् इति, इति शब्दश्चकारार्थ: । तथा च अस्य परमात्मनो महिमानं यदा यस्मिन् काले पश्यति, तदा वीतशोको भवति । इत्यनेन विशिष्टाद्वैतवाद: सूत्रित: ।।श्री:।।

अथ ब्रह्मविदुषो ब्रह्मसाम्यप्राप्तिमाह —

यदापश्यः पश्यते रूक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरूषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ।।३।।

यदा यस्मिन्समये, अपश्य: अकारं वासुदेवं पश्यतीति अपश्य: भगवद्दर्शनशील:, यदा रुक्मवर्णं परमं तेजस्विनम् ईशं सर्वसमर्थं परमात्मनं ब्रह्मण: विधातुश्च योनिं जन्मदातारं, कर्तारं समस्तजगत: रचयितारं पश्यते साक्षात् कुरुते, तदा तस्मिन् समये

विद्वान् ब्रह्मवेत्ता शुभाशुभफलभूते पुण्यपापे विधूय समाप्य निरञ्जनं कर्मलेपरहितं परमं पूजनीयं साम्यं समत्वमुपैति । यद् वा भोगमात्रे ब्रह्मणः साम्यमुपैति । **भोगमात्र-साम्यलिङ्गाच्च:** ब्र०सू०४-४-१८ इति व्यासवचनात् ।।श्रीः।।

अथ ब्रह्मविदं प्रशंसति —

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी ।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ।।४।।

एषः प्राणः सर्वेषां जीवनभूतः, यः पृथिव्यादिभिः सर्वभूतैर्विभाति शोभते । एवंभूतं सर्वेषां प्राणं परमात्मानं विजानन् विविच्यावगच्छन् आत्मना परमात्मना सह क्रीडतीति आत्मक्रीडः, यद् वा आत्मनि स्वमिन्नेव क्रीडति इत्यात्मक्रीडः । आत्मनि परमात्मनि रतिः यस्य स आत्मरतिः तथा क्रियावान् भगवदीयक्रियासम्पन्नः, ब्रह्मविदां, ब्रह्मज्ञानां, ब्रह्मप्राप्तृणां वा वरिष्ठः एषः विद्वान् आतिवादी न भवति नाधिकं वदति, प्रायो मौनमालम्बते ।।श्रीः।।

अथ परमात्मनः प्राप्तिप्रकारमाह —

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ।।५।।

यः सर्वेषाम् अन्तःशरीरे हृद्देशे अन्तर्यामिरूपः ज्योतिरेव ज्योतिर्मयः शुभ्रः निर्दोषः विभाति । यम् अन्तर्यामिणं क्षीणाः नष्टाः दोषाः भगवद्-भजनप्रत्यवायाः येषां तथाभूताः क्षीणदोषः यतयः भगवद्भक्ताः श्रीवैष्णवास्त्रिदण्डिनः पश्यन्ति । एष आत्मा सत्येन तपसा ब्रह्मचर्येण एभिः समुदितेन सम्यग्ज्ञानेन सेवकसेव्यभावमयेन एष आत्मा परमात्मा लभ्यः ।।श्रीः।।

अथ भगवती श्रुतिः सत्यं प्रशंसति —

सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ।।६।।

सत्यं भूतार्थवाद एव जयति सर्वोत्कृष्टं विराजते, अनृतं असत्यं न जयति । येन आप्तकामाः प्राप्तसमस्तकामाः ऋषयः महर्षयः यत्र तत्परमं सत्यस्य निधानं परमात्मतत्वं विराजते, तमेव साकेतलोकं येन आक्रामन्ति सूर्यद्वारेण प्राप्नुवन्ति । तन्मार्गभूतः देवयानः देवाः यान्ति येन तादृशः पन्था येन सत्येन विततः तदेव सत्यं सर्वत्र जयति ।।श्रीः।।

भूयः स्वरूपतो तन्निर्वक्ति —

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति ।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत् स्विहैव निहितं गुहायाम् ।।७।।

तद् ब्रह्म बृहत् निरतिशयवर्धनशीलं, दिव्यम्, अलौकिकम् अचिन्त्यानि न चिन्तयितुं शक्यानि रूपाणि नृसिंहादीनि यस्य तत् अचिन्त्यरूपं, यच्च सूक्ष्माज्जीवादपि सूक्ष्मतरम् अणीयः । यत् भगवद् विमुखानां कृते दूरादपि दूरे वर्तमानं, यच्च स्वभक्तानां कृते अन्तिके निकटे, यच्च सर्वेषु देवेषु पश्यत्सु द्रष्टुं यतमानेषु गुहायां हृदये योगमायाञ्चलरूपायां निहितं, तदेव आत्मभूतं केवलं सत्येन लभ्यते ।।श्रीः।।

अथ ब्रह्मप्राप्तिदुरूहतां वर्णयति —

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्तस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।।८।।

तद् ब्रह्म चक्षुषा नेत्रेण वाचा वाण्या न गृह्यते, न वा देवैः तपसा कर्मणा, अयं गृहीतुं शक्यः । वस्तुतस्तु ज्ञायते जगदनेन इति ज्ञानं, ज्ञानं नित्यमस्त्यस्य इति ज्ञानं ब्रह्म, **सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म** इति श्रुतेः । तस्य ज्ञानस्य परमात्मनः प्रसादः कृपा, तस्मात् ज्ञानप्रसादात् परमात्मकृपया, विशुद्धं शुद्धं चित्तं यस्य सः निष्कलं निर्लीनकलकं तं ध्यायमानः ध्यानविषयं कुर्वन् पश्यति, साक्षात्करोति ।।श्रीः।।

अथ परमात्मनो ज्ञाने चित्तरूपमन्तःकरणं निश्चित्य तस्य जीवात्मनः स्वरूपं निर्धारयति —

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश ।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ।।९।।

यस्मिन् जीवात्मनि प्राणः अन्तःसञ्चारिवायुः, पञ्चधा प्राणापानव्यानसमानोदानप्रकारः यस्मिन् जीवात्मनि सति विराजमाने शरीरं संविवेश । यस्मिंश्च वर्तमाने प्रजानां प्राणैः सह चित्तमोतं प्रोतं, यस्मिंश्च भगवन्नामरूपलीलाधामचिन्तनेन एषः अतिसन्निकृष्टः प्रत्यगात्मा चेतसा चित्ताख्येन अन्तः करणेन, वेदितव्यः देहेन्द्रियमनोबुद्धिविलक्षणतया ज्ञातव्यः । अणुः अनयैव श्रुत्या जीवात्मनोऽणुत्वं परमात्मनश्च विभुत्वं साधितं कण्ठरवेण । तथा हि प्रथमचरणे **एषोऽणुरात्मा** इत्यनेन अणुत्वं जीवात्मनः, चतुर्थचरणे **विभवत्येष आत्मा** इत्यनेन परमात्मनो विभुत्वम् । अनयैव वज्रसाररूपया श्रुत्या प्रच्छन्नबौद्धकल्पितं जीवात्मविभुत्ववादाडम्बरं शैलकूटमिव धूलिसात्कृतम् ।।श्रीः।।

अथात्मज्ञपूजनफलमाह —

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्वः कामयेते यांश्च कामान् । तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्म्ज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः ।।१०।।

रा०कृ०भा० - अत्र आत्मशब्दः जीवात्म्परमात्मपरः, स्वस्वरूप परस्वरूपज्ञाता स्वकीयेन मनसा यं यं लोकं कामयते, तं तं कामं प्राप्नोति । यतो हि स विशुद्धसत्वः तस्मात् भूतिकामः भगवदनुग्रह समभिलाषी आत्मज्ञम् अर्चयेत् पूजयेत् ।।श्रीः।।

।। इति तृतीयमुण्डके प्रथमखण्डः ।।
।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। अथ द्वितीयः खण्डः ।।

अथ ब्रह्मज्ञान प्रकारं शुक्रातिवर्तनं च निर्वक्ति —

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ।
उपासते पुरूषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ।।१।।

स एव आत्मज्ञः तत्परमं पूजनीयं ब्रह्मधाम वेद जानाति साकेतलोकमुपास्ते । यः चेतसा अणुभूतं प्रत्यगात्मनं स्व स्वरूपलक्षणं वेद । यत् शुभ्रं, यत्र च विश्वं निहितं तन्निरस्तसमस्तहेयगुणं कलितसकलकल्याणगुणं परमं ज्योतिर्मयं ब्रह्म स वेद । ये अकामाः संसारकामनावर्जिताः पुरुषं परमात्मानमुपासते, निजनाथरूपेण सेवन्ते, त एव धीराः एतत् शुक्रं रेतस्संभवं संसारम् अतिवर्तन्ति, अतिक्रामन्ति । भगवद्भजनमन्तरेण कोऽपि न कन्दर्प दर्पं व्याहन्तुं प्रभवति । यथा मानसकाराः —

धरे न काहु धीर सबके मन मनसिज हरे ।
जेहिं राखे रघुवीर सो उवरे तेहि काल मँह ।।

मानस १-८५ ।।श्रीः।।

अथाप्तकामं प्रशंसति —

कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र ।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस् त्विहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ।।२।।

यः मन्यमानः अभिमानयुक्तः कं सुखम् आमं अपक्वं येषु ते कामाः तान् भोग्यपदार्थान् कामयते, सः कामभिः कामनायुक्तैः हेतुभूतैः मातापितृभिः तत्र-तत्र

उच्चावचनेषु लोकेषु जायते । यस्तु पर्याप्तकामः, कृतात्मा साक्षात् कृतः आत्मा परमात्मा येन, तथाभूतस्य सर्वेकामा इहैव अस्मिनेव लोके प्रविलीयन्ति, भगवद्भजने न प्रत्यवायाः भवन्ति ।।श्रीः।।

अथ परमात्मप्राप्ति प्रकारमाह —

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ।।३।।

आत्मा परमात्मा, प्रवचनं वेदाध्यापनं, मेधा शास्त्रग्रहणशक्तिः, श्रुतं वेदान्तश्रवणम्, इह परमात्मप्राप्तिसाधनत्वेन प्रवचनमेधाश्रुतानां एकैकशो निषेधः । अयमात्मा परमात्मा केवलेन प्रवचनेन, केवलया मेधया, केवलेन च वेदान्तश्रवणेन न लभ्यः । त्रिर्नकारं पठित्वा त्रैकालिकनिषेधमाह तर्हि कयं लभ्यः ? इत्यत आह - एषः परमात्मा यमेव वृणुते यं भूरि भाग्यवन्तं कृपावात्सल्यभाजनत्वेन स्वीकरोति, तेन महात्मनैव साधनेन लभ्यः । यतो हि तस्यैव समक्षम् , एषः आत्मा परमात्मा स्वां तनुं निन्दितकोटिकोटिकादम्बिनीं विवृणुते आविष्करोति । अत एव श्रीभागवते -

रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद् वा ।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ।।

भागवत ५-१२- ।।श्रीः।।

अथ पुनरपि परमात्मप्राप्तिप्रकारमाह —

नायमात्म बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात् ।
एतैरूपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ।।४।।

अयमात्मा परमात्मा बलहीनेन आत्मबलरहितेन न लभ्यः । न वा प्रमादात् , न वा अलिङ्गात् शास्त्रीयविधिलिङ्गरहितात् तपसोऽपि लभ्यः । एतैः उपायैः यतमानस्य विदुषः अर्थपञ्चकतत्वज्ञस्य पुरस्तात् परमात्मा स्वां तनुं प्रकटयति ।।श्रीः।।

अथ यतीन्द्राणां महत्वं वर्णयति —

सं प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मनो वीतरागाः प्रशान्ताः ।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मनः सर्वमेवाविशन्ति ।।५।।

सेवकसेव्यभावरूपेण ज्ञानेन तृप्ताः ज्ञानतृप्ताः तृप्तः आत्मा अन्तः करणं येषां तथाभूताः ऋषयः नं परमात्मानं सम्प्राप्य प्रशान्ताः शान्तमनसो भवन्ति । ते धीराः

सर्वत: सर्वतोभावेन संसारसर्वसम्बन्धैश्च सर्वगं सर्वव्यापिनमिमं प्राप्य, युक्त: समर्पित: भववत्कङ्कर्ये आत्मा देह: यैस्ते युक्तात्मान: तं सर्वस्वरूपं परमात्मानं विशन्ति प्रविशन्ति ॥ श्री:॥

अथ परमात्मनिलयप्रकारमाह —

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः सन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥६॥

वेदान्तम् उपनिषत्प्रमाणं वेदव्यासप्रणीतदर्शनम् । तस्यैव विज्ञानेन विनिश्चित: विशिष्टाद्वैतवादरीत्या निश्चित: अर्थ परमार्थ: यैस्ते, सन्यासयोगात् प्रपत्तियोगलक्षणात् विशुद्धं सत्वं येषां तथा भूता:, ते सर्वे परान्तकाले शरीर-विसर्जनसमये ब्रह्मलोकेषु साकेते, परामृता: उत्कृष्ट भक्त्यामृतसेविन: परिमुच्यन्ते बन्धनात् मुक्ता: भवन्ति ॥श्री:॥

भूय: प्रलयं वर्णयति -

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥७॥

पञ्चदशकला: प्राणे देवाश्च प्रधानदेवतासु, कर्माणि आत्मनि एवं सर्वे परस्मिन् ब्रह्मणि एकीभवन्ति, एकीभूयतिष्ठन्ति ॥श्री:॥

अथ नामरूपमुक्तिप्रकारमाह —

यथा नद्यः स्यन्दमाना समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥८॥

यथा द्रवन्त्य: नद्य: नामरूपे त्यक्त्वा सागरे अस्तं गच्छन्ति । तथैव ब्रह्मवेत्ता सांसरिकनामरूपाद्विमुक्त: नित्यभगवत् किङ्कररूप: परात्परं जीवात्मनोऽपि सूक्ष्मं दिव्यं पुरुषमुपैति, प्राप्नोति ॥श्री:॥

फलश्रुतिमाह —

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति नास्या ब्रह्मवित्कुले भवति ।
तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥९॥

एवं भूतं ब्रह्म य: जानाति, स ब्रह्मैव भवति, ब्रह्मणे एव भवति। **सुपां सुलुक्** (पा०अ० ७-१-३९) इत्यनेन ङेर्लुक् अस्य कुले भगवद् विमुखो न भवति, शोकं पाप्मानं च तरति ॥श्री:॥

वेदान्ताधिकारं वर्णयति —

तदेतदृचाभ्युक्तम् -

क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः ।
तेषामेवैषां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ।।१०।।

इदमेव ऋचा मन्त्रेणोक्तम्-ये क्रियावन्तः सदाचाराः श्रोत्रियाः वेदपारगाः, ब्रह्मनिष्ठाः, ब्रह्मणि निष्ठा येषां तथाभूताः, ये अग्निहोत्रम् अजुह्वत । यैः शिरोव्रतं जटाबन्धनरूपं वानप्रस्थे चीर्णं तेषामेव ब्रहमविद्यां वदेत् उपदिशेत् ।श्रीः।।

अथोपसंहरति —

तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते ।
नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ।।११।।

इदमेव अङ्गिराः शौनकाय प्राह, एतत् अचीर्णव्रतः अकृतव्रतो नाधीते । परम ऋषिभ्यः नमः नमस्कारः **ऋत्यकः** इत्यनेन प्रकृतिभावः । द्विरुक्तिरादरार्था, ग्रन्थसमाप्तिसूचिका च ।।श्रीः।।

मुण्डकोपनिषदो ह्यनुत्तमं रामभद्रपदभक्तिवर्धनम् ।
भाष्यमेतदथ भक्ततुष्टये रामभद्रसुधिया प्रभाषितम् ।।

इति इत्यथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषदि श्रीचित्रकूट तुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरुरामानन्दाचार्य स्वामिरामभद्राचार्यप्रणीतं श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम् ।।

।। **श्रीराघवोः शन्तनोतु** ।।

●

।। श्रीमद्राघवो विजयतेतराम् ।।

।। श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः ।।

मुण्डकोपनिषद्

श्रीराघवकृपाभाष्य

श्री मुण्डकोपनिषद् का
पदवाक्यप्रमाणपारावारीण-
कवितार्किकचूडामणि वाचस्पति-
श्री जगद्गुरूरामानन्दाचार्य स्वामि रामभद्राचार्य-
प्रणीत श्रीमज्जगद्गुरूरामानन्दाचार्यसम्पुदायानुसारि
विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त-प्रतिपादक श्रीराघवकृपाभाष्य ।।

।। श्रीमद्राघवो विजयतेतराम् ।।

।। श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः ।।

अथ मुण्डकोपनिषद्

श्रीराघवकृपाभाष्य

।। मंङ्गलाचरणम् ।।

रामस्तालतमालवैभववपुः कोदण्डदीक्षागुरु-
र्विभ्रच्चारुशरालयो करतले शार्ङ्गं शितान् सायकान्।
लङ्कालङ्करणप्रवेपनपटुः कीनाशलोलानलो
निघ्नन्रावणमुण्डकानि भगवान् देयादहं मुण्डकम्।।१।।

मुण्डमालपरितोषकाम्यया मुण्डकानि दशवक्त्ररक्षसः।
अर्पयन्विशिखपातितान्ययं मुण्डकोपनिषदर्थराघवः।।२।।

इमाः किं वा ताराः नहिं खररिपोर्भूषणमिदं,
किमेषा वैशम्पा नहि रघुपतेः पीतवसनम्।
असौ किं राकेशो नहि नहि हरेराननमिदं,
किमेषः पाथोदो नहि धरणिजावल्लभवपुः।।३।।

साकारञ्च निराकारं नीराकारं नाराकृतिम्।
श्रीराममक्षराकरं मुण्डकार्थमुपास्महे।।४।।

लीलालीनामङ्गणे शीरकेतोः शम्पाशोभां रामनेत्रैकलोभाम् ।
आचार्यां स्वां मातरं धारणेयीं सीतामीडे ब्रह्मविद्यास्वरूपाम् ।।५।।

रामानन्दपदाम्भोजपरागं रागतो भजे ।
यस्यानुरागमाध्वीकां पिबन्ति ब्रह्मवादिनः ।।६।।

मन्महे तुलसीदासमानसं मानसोपमम् ।
क्षमन्तेऽद्यापि नो धीराः प्राप्तुं यस्य मरालताम् ।।७।।

सुमिर राम सिय चरण कमल रज सब सुख दायिनि ।
हृदय राखि रघुचन्द भक्ति अविरल अनपायिनि ।।

श्री मुण्डक उपनिषद अंगिरा शौनक गाथा ।
कथित विशिष्टाद्वैतवाद शाश्वत रघुनाथा ।।

हरिगुरु वैष्णव गौरि हर चरन रेणु निज शीश धरि ।
रामभद्र आचार्य जति राघवकृपासुभाष्य करि ।।

शान्तिपाठः

सम्बन्ध– अब मैं श्री सीताराम भगवान् के रमणीय श्रीचरणकमल के समर्चन की इच्छा से मुण्डकोपनिषद् पर श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णवसम्प्रदाय समनुमोदित विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त के अनुसार श्रीराघवकृपाभाष्य का प्रारम्भ करता हूँ।। श्री ।।

मुण्डोपनिषद् अथर्ववेद की शौनकीयशाखा में कही गई है। इसमें तीन मुण्डक और प्रत्येक मुण्डक में दो-दो खण्ड हैं। संस्कृत में मुण्डशब्द का सिर अर्थ है। उपनिषद् भाग को वेद का सिर कहा जाता है। चूँकि यहाँ ज्ञानकाण्ड के मन्त्ररूप वेद के शिरों का समूह संकलित है इसलिए इसे ''मुण्डक'' उपनिषद् कहते हैं। ''मुण्डकानां समूहः मुण्डकम्'' यहाँ समूह के अर्थ में कन् प्रत्यय हुआ है। यद्यपि संख्यावाचक शब्दों से ही समूह अर्थ में कन् प्रत्यय का विधान है, जैसे ''अष्टानां समूहः अष्टकम्'', ''दशानां समूहः दशकम्''। तथापि संख्या के अभाव में भी यहाँ अनुकम्पार्थ में कन् प्रत्यय हुआ है। भगवान् की महिमा का वर्णन करने से ये वेद के शिररूपी मन्त्र अनुकम्पित हो गये हैं। भगवान् ने कृपा करके इनसे

अपना यश कहलवाया। ''अनुकम्पितानि मुण्डानि इति मुण्डकानि तानि सन्त्यस्मिन् इति मुण्डकम्।'' अथवा वेद के मस्तक रूप मन्त्रों से यह उपनिषद् साधकों को ''क'' अर्थात् ब्रह्मसुख प्रदान करती हैं। ''मुण्डेभ्य: कं यस्मात् तत्मुण्डकम्।'' अथवा इस उपनिषद् के प्रत्येक मन्त्र के मुण्ड अर्थात् सिद्धान्तभाग में ''क'' यानि परब्रह्म परमात्मा विराजमान हैं, इसीलिए इसे ''मुण्डक'' कहते हैं। ''मुण्डे-मुण्डे क:यस्य तत्मुण्डकम्'' इस ग्रन्थ के प्रत्येक मन्त्र के सारांश में परमेश्वर का वर्णन है। अथवा भगवान् की अनुकम्पा से अवनत अपने मुण्ड अर्थात् शिरों से प्रभु को नमन करती हुई, जो प्रभु से चिपक कर बैठती हैं, वह मुण्डकोपनिषद्। ''अनुकम्पितै: मुण्डै: उपसमीपं निषीदति इति मुण्डकोपनिषद्'' जैसे कोई कुलाङ्गना अपने प्राणपति के गौरव से गौरवान्वित होती हुई भी लज्जा से सिर झुकाकर ही प्रीतम के समीप बैठती है, उसी प्रकार मुण्डकोपनिषद् भी बड़ी विनम्रता से अपने प्राणधन परमेश्वर की महिमा का वर्णन करती है। यह मुख्यत: ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन करती है। ब्रह्मविद्या का अर्थ है— ब्रह्म की विद्या, अथवा ब्रह्म को प्राप्त कराने वाली विद्या। ''ब्राह्मण: विद्या ब्रह्मविद्या– ब्रह्म प्रापिका विद्या ब्रह्मविद्या।'' प्रथम पक्ष में षष्ठी का सम्बन्ध अर्थ होगा, और ब्रह्म के साथ विद्या का प्राप्यप्रापकभाव सम्बन्ध होगा। यहाँ ब्रह्म प्राप्य है और विद्या प्रापिका। द्वितीय पक्ष में आकृतिगण की दृष्टि से शाकपार्थिवगण में पाठ मान कर प्रापिका शब्द का लोप हुआ। इस प्रकार यह विद्या जीवात्मा को परमात्मा से मिलाती है॥ श्री॥

अब यहाँ प्रश्न है कि— विद्या में प्रापकत्व किन्निमित्तक है। अर्थात् ब्रह्मविद्या जीव को भगवान् से कैसे मिलाती है? कर्म की सहायता से, या ज्ञान के निमित्त से अथवा भक्ति के माध्यम से। **उत्तर–** ब्रह्मविद्या केवल कर्म से जीव को भगवान् से नहीं मिला सकती। क्योंकि उसमें संसारबन्धन की सम्भावनायें बन कसती हैं। केवल ज्ञान से भी जीव परमात्मा को नहीं पा सकता, क्योंकि इसी मुण्डक उपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि— यह परमात्मा केवल प्रवचन से या केवल शास्त्र की धारणाशक्तियों अथवा केवल वेद शास्त्रादि के श्रवण से प्राप्त नहीं होते। फिर परमात्मा कैसे प्राप्त होते हैं? इस पर श्रुति आगे कहती है कि— जिसको यह भगवान् कृपापात्ररूप में वरण कर लेते हैं, उसी के द्वारा और

उसी की सहायता से परमात्मा प्राप्त किये जा सकते हैं। यहाँ तत् शब्द से परमात्मा और यत् शब्द से जीवात्मा का संकेत है। जब यह प्रश्न होता है कि— जिसको भगवान् वरण करते हैं, उसमें विशेषता क्या होती है ? इस प्रश्न पर श्रुति मौन हो जाती है। उनका अभिप्राय यही है कि, परमेश्वर का स्वभाव बड़ा ही निरंकुश होता है, वह किस विशेषता से रीझेंगे यह कहना कठिन है। बड़े-बड़े ज्ञानी एक बूँद चरणोदक पाने के लिए तरस जाते हैं और अनपढ़ गवाँर केवट कठौते भर-भर कर भगवान् का चरणोदक पीता है ॥ श्री ॥

छोटों को कठोतो भरि पानि आनि गंगाजू को।
धोय पान पियत पुनीत बारि फेरि फेरि ॥

(कवितावली रा० अयोध्या काण्ड)

यद्यपि कठोपनिषदि की तृतीयवल्ली के द्वितीयमन्त्र में श्रुति ने एक संकेत दिया है। ''धातुः प्रसादान् महिमानमात्मनः'' अर्थात् जीव परमात्मा के कृपाप्रसाद से उन्हें पा सकता है। और वह कृपा बिना दैन्य के प्राप्त नहीं हो सकती। कृपा से ही भगवत्प्रभाव को जाना जाता है और भगवत्प्रभाव के जानने पर ही प्रभु में प्रतीत होती है और उसी से प्रभु के चरणों में प्रीति का उदय होता है। फिर भगवती भक्ति की कृपा से साधक परमात्मा को पूर्ण रूप से जान लेता है और पा लेता हे। जैसा कि गोस्वामी जी श्रीरामचरित मानस में कहते हैं—

रामकृपा बिनु सुनु खगराई । जानु न जाइ राम प्रभुताई ॥
जाने बिनु न होई परतीति । बिनु परतीति होई नहि प्रीति ॥
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई । जिमि खगपति जल कै चिकनाई ॥

—(मा०उ०- ८९/६,७,८)

गीता (१८/५५) में भगवान् कहते हैं कि— मैं जैसा हूँ जितना हूँ वह सब ठीक-ठीक मुझे साधक भक्ति से जान सकता है। कुछ लोग ज्ञान के साथ कर्म का समुच्चय नहीं मानते। उनकी दृष्टि में ज्ञान के प्राप्त होने पर कर्म उसी प्रकार समाप्त हो जाते हैं जैसे सूर्योदय के समय अन्धकार। इस सिद्धान्त में गीता (४/३३) का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

सर्वं कार्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।

अतः हे अर्जुन! ज्ञान के प्राप्त होने पर सभी कर्म समाप्त हो जाते हैं। गीता (४/३७) में भगवान् कहते हैं कि— जैसे अग्नि ईंधन को जला देता है उसी प्रकार ज्ञानाग्नि सभी कर्मों को जला देता है। परन्तु यदि गम्भीरता से देखा जाय तो यहाँ कर्मशब्द कर्मफल का वाचक है क्योंकि कर्म तो प्रध्वंशशील है। अर्थात् करने मात्र से क्रिया समाप्त हो जाती हैं। तो फिर इसे ज्ञान क्या जलायेगा। कर्म के नष्ट होने पर भी फल बने रहते हें और उन्हीं को ज्ञान जला देता है। वास्तव में ज्ञान के साथ कर्म का समुच्चय अनिवार्य है। क्योंकि कर्त्तव्य न होने पर भी व्यक्ति स्वभाव से कर्म करता है। ज्ञानी को भी शरीर निर्वाह के लिए कर्म करना ही पड़ता है। भगवान् गीता जी के १८वें अध्याय में स्वयं बल देकर कहते हैं कि— यज्ञ, दान, तप आदि वेदविहित कर्म कभी नहीं छोड़ने चाहिए। उनहें करते रहना ही चाहिए। क्योंकि यज्ञ, दान और तप मनुष्यों को भी पवित्र करते हैं। (गीता- १८/५) भगवान् तो यहाँ तक कहते हैं कि— नियत कर्म का कभी त्याग नहीं करना चाहिए। हाँ! शुकसनकादि की कक्षा बहुत ऊपर की है। वे हमारे लिए अनुकरणीय नहीं अपितु अनुसरणीय हैं। जो यह कहा जाता है कि ''अंधकार और प्रकाश की भाँति ज्ञान और कर्म का समुच्चय सम्भव नहीं है'' यह कहना अत्यन्त भ्राँति पूर्ण है। क्योंकि सूर्य के प्रकाश में अन्धकार की प्रतीत नहीं होती है। पर वह रहता तो है ही, नहीं तो दिन में भी खिड़की बंद घर में अन्धकार की प्रतीत कैसे होती है। कभी-कभी खग्रास सूर्यग्रहण के समय दिन में भी तारे दीखते हैं। इससे सिद्ध होता है कि, प्रकाश के रहने पर भी अन्धकार की सत्ता रहती है। गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज का स्पष्ट मानना है कि— अज्ञान के साथ ज्ञान प्रकाश के साथ अन्धकार और सगुण के साथ निर्गुण की सत्ता अवश्यम्भावी है॥ श्री॥

ज्ञान कहे अज्ञान बिनु तम बिनु कहिय प्रकाश।
निर्गुण कहे सगुण बिनु सो गुरु तुलसीदास॥

—(दो० १५०)

अत एव ज्ञान और कर्म का समुच्चय उचित ही है। क्योंकि भगवान् के मत में नियतकर्म का त्याग उचित नहीं है। सन्यास भी चतुर्थ आश्रम है। अत: सन्यासी को भी चतुर्थ आश्रम की मर्यादा के अनुसार कर्म करने ही पड़ते हैं। हाँ अतिवर्णाश्रमी को कोई कर्म नहीं करने पड़ते। पर वहाँ उसकी अकर्मता ही श्रुतिविहित कर्म है। वस्तुत: ज्ञान या कर्म दोनों आशक्ति वर्जित होकर समुच्चित होते हैं। तभी उनकी शोभा भी होती है। कदाचित् इसीलिए भगवान् को चन्द्रमा की भूमिका निभानी पड़ती है। क्योंकि चन्द्रमा का प्रकाश अन्धकार का सहिष्णु है शत्रु नहीं, और अन्धकार भी चन्द्रमा के प्रकाश का भूषण है दूषण नहीं। ज्ञान और कर्म आशक्ति से युक्त होकर बंधन के ही कारण बनते हैं, मोक्ष के नहीं। जब ज्ञान में आशक्ति आती है तब वह सत्वगुण का साथ देता है और उसकी रस्सी बना कर जीव को बाँध लेता है। ''सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ।'' (गीता– १४/६) और रजोगुण कर्म की आशक्ति को अपना बंधन बना कर उससे जीव को बाँधता है। 'तन्निवध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम्' (गीता– १४/७) परन्तु भक्ति का संग दोषावह नहीं है। इसलिए जीवन्मुक्तजन ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् भी भक्ति नहीं छोड़ते॥ श्री॥

अस विचार पंडित मोहि भजहीं। पायउ ज्ञान भगति नहि तजही॥

सत्य तो यह है कि— साधनभक्ति की परम निष्ठा ज्ञान है और ज्ञान की परमपराकाष्ठा प्रेमलक्षणाभक्ति है। इसप्रकार ब्रह्मप्राप्ति में ज्ञान और कर्म दोनों माध्यमों से सहायक बनी हुई ब्रह्मविद्या का सैद्धान्तिक व्याख्यान करने के लिए सौनकादिक ऋषि एवं महर्षि अथर्वा के सम्वाद के रूप में मुण्डकोपनिषद् का प्रारम्भ होता है। यहाँ 'भद्रं कर्णेभि;' इत्यादि शान्तिपाठ है इसकी व्याख्या हम पहले ही प्रश्नोपनिषद में कर चुके हैं॥ श्री॥

।। प्रथम मुण्डक ।।

।। अथ प्रथमखण्ड ।।

संगति– अब ब्रह्मविद्या का सम्प्रदाय कह रहे हैं ।। श्री ।।

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– ॐ जगन्नियन्ता परमेश्वर के संकल्प से उन्हीं नारायण के नाभि कमल में सम्पूर्ण देवताओं में श्रेष्ठ ब्रह्मा जी आविर्भूत हुए। वे सारे संसार के कर्त्ता और परमेश्वर द्वारा रचे हुए वैदिक भूर्भुवः आदि लोकों के पालक भी हुए। उन्हीं भगवान् ब्रह्मा ने सम्पूर्ण विद्याओं में श्रेष्ठ वेदान्त नामक ब्रह्मविद्या के ज्ञान का अवस्था में श्रेष्ठ अपने जेष्ठपुत्र अथर्वा को उपदेश किया ।। श्री ।।

व्याख्या– ब्रह्मा जी देवताओं में ज्ञान और वय दोनों क्रम में जेष्ठ हैं। इसी से श्रुति ने उन्हें प्रथम कहा। परमेश्वर की सृष्टि को सर्ग और ब्रह्मा की सृष्टि को विसर्ग कहा जाता है। पंचमहाभूत पंचतन्मात्रा, इन्द्रियां, मन आदि चारो अन्तःकरण भूर्भुवः आदि लोक ये सूक्ष्म सृष्टि है। ये ब्रह्मा के वश की नहीं है। इसकी रचना परमेश्वर करते हैं। और हम लोगों के स्थूल शरीरों की रचना ब्रह्मा करते हैं। अतः यहाँ विश्वशब्द हम लोंगों के स्थूल शरीरों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसके ब्रह्मा कर्त्ता है। और भुवन शब्द परमेश्वर सृष्टि के लिए प्रयुक्त हुआ है जिसके ब्रह्मा रक्षक हैं। ब्रह्मविद्या व्याकरणादि विद्याओं की प्रतिष्ठा है। क्योंकि व्याकरण आदि विद्यायें ब्रह्मविद्या को समझने में सहायक बन कर परम्परा सम्बन्ध से ब्रह्मबोध कराती है। और ब्रह्मविद्या साक्षात्सम्बन्ध से ही ब्रह्म का साक्षात्कार करा देती है। ''सर्वविद्यानां प्रतिष्ठा यस्यां सा ताम्'' अर्थात् व्याकरण आदि विद्याओं को ब्रह्मविद्या से ही सम्मान मिला है। अथवा ये सभी विद्यायें ब्रह्मविद्या में ही प्रतिष्ठित हैं। क्योंकि व्याकरणादि तेरहों विद्यायें साधन है और ब्रह्मविद्या साध्य है। यहाँ श्रुति अथर्वा को ब्रह्मा का जेष्ठ पुत्र कह रही है। क्योंकि मरीच आदि ऋषियों में अथवा ज्ञान की दृष्टि से सबसे श्रेष्ठ हैं। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि ब्राह्मण वर्ण की ज्ञान से ज्येष्ठता, क्षत्रिय की बल

से ज्येष्ठता, वैश्य की धन से जेष्ठता मानी गयी है। केवल चतुर्थ वर्ण में ही अवस्था की दृष्टि से वृद्धता स्वीकारी गयी हें। एक नब्बे वर्ष के मूर्ख ब्राह्मण की अपेक्षा पाँच वर्ष का ब्राह्मण बालक ज्ञान में श्रेष्ठ है तो बूढ़े ब्राह्मण के लिए भी यह ब्राह्मण बटुक प्रणम्य है। इसलिए सोलह वर्ष के शुक्राचार्य को लाखों वर्ष जेष्ठ ऋषियों ने प्रणाम किया, क्योंकि ज्ञान की दृष्टि से शुकाचार्य सबसे श्रेष्ठ थे। 'प्रत्युत्थितास्ते मुनयः स्वासनेभ्यः' (भागवत् १/१९/२८) अतः शुकाचार्य को देख कर सभी महर्षि अपने-अपने आसन से खड़े हो गये॥ श्री॥

संगति– अब ब्रह्मविद्या की आचार्य परम्परा कहते हैं—

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्।
स भारद्वाजाय सत्यवहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम्॥२॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– ब्रह्मा जी ने जिस परावरा ब्रह्मविद्या का अपने जेष्ठ पुत्र अथर्वा को उपदेश किया, अथर्वा ने वही ब्रह्मविद्या अपने पटु शिष्य महर्षि अंगीः को सुनाई, उन्होंने भरद्वाज के पुत्र सत्यवह को सुनाई और सत्यवह ने महर्षि अंगिरा को ब्रह्मविद्या का उपदेश किया॥ श्री॥

व्याख्या– यहाँ 'व्यत्ययोबहुलम्' सूत्र द्वारा 'प्रावदत् इस लङ्लकार के स्थान पर 'प्रवदेत्' लिङ् लकार आत्मनेपद प्रथमपुरुष एकवचन का व्यत्यय हुआ। 'परावरां' यह शब्द ब्रह्म विद्या का विशेषण है और बहुत महत्त्वपूर्ण है। सगुणब्रह्म को 'पर' और निर्गुण ब्रह्म को अवर कहा गया है। इन दोनों की प्रतिपादिका होने के कारण ब्रह्मविद्या परावरा है। अथवा इस ब्रह्मविद्या में विधेय रूप से 'पर' अर्थात् ब्रह्म का प्रतिपादन है और निषेध रूप में 'अवर' यानि निकृष्ट संसार का प्रतिपादन है। इसलिए इसे परावरा कहते हैं। क्योंकि ब्रह्मविद्या में ही ब्रह्म की सत्यता और संसार की क्षणभंगुरता का व्याख्यान है। इसी बात को मानस में भगवान् शंकर भी पार्वती से कहते हैं॥ श्री॥

उमा कहौ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत् सब सपना॥

—*(मानस- ३/३९/५)*

संगति– अब शौनक के प्रश्न का संकेत कहते हैं—

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः प्रपच्छ।
कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यह सर्व प्रसिद्ध हैं कि— एक बार महान् गृहस्थ महर्षि शौनक ने गृहस्थ आश्रम के प्रपंचों से वैराग्य लेकर विधिवत् महर्षि अंगिरा जी के चरणों में गुरुमुपसृत्य करके अर्थात् हाथ में समिधा लेकर महर्षि अंगिरा के चरणों में उपस्थित होकर, उन्हीं को अपना आचार्य बना कर विनय पूर्वक प्रश्न किया— "भगवन् किस तत्व के जान लेने पर प्रत्यक्ष में दिखने वाला यह सब कुछ भलीभाँति जान लिया जाता है ?"

व्याख्या– पूर्वाचार्यों ने महाशाल का महागृहस्थ अर्थ किया है, परन्तु इस अर्थ में कोई आधार प्रस्तुत नहीं किया है। अब यहाँ हम महाशाल शब्द का शब्दार्थविचार करेंगे। संस्कृत में 'शाला' शब्द का गृह अर्थ होता है, 'महतीशाला यस्य स महाशालः' जिसका बहुत विशाल घर है उसे महाशाल कहते हैं। चूँकि शौनक जी की बहुत बड़ी शाला है जिसमें गोशाला, पाठशाला, धर्मशाला, अतिथिशाला, व्यायामशाला आदि विविध गृहों का समावेश है इसलिए महान् गृहस्थ हैं। अथवा गृहस्थ अपनी कुटुम्ब की भिन्न-भिन्न आशाओं से घिरा रहता है उसे पत्नी, पुत्र, पौत्र, धन, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा आदि अनेक विषयों की आशा रहती है इसलिए उसे महाशाल कहते हैं 'महतीम् आशां लाति इति महाशालः' अर्थात् जो अनेक प्रकार की आशायें लाता है वह महाशाल है। क्योंकि गृहस्थ अपने अनेक सम्बन्धियों के प्रति भिन्न-भिन्न आशायें लिए बैठा रहता है। इसीलिए वह सब का दास बना रहता है और जो आशा को ही दासी बना लेते हैं, सारा संसार उनका दास बन जाता है। यहाँ संस्कृत का एक सुभाषित द्रष्टव्य है—

आशायाश्चैव ये दासास्ते दासा जगत्ामपि।
आशा दासीकृता येन, तस्य दास इदं जगत्।

गोस्वामी तुलसीदास जी भी दोहावली में कहते हैं—

तुलसी अद्भुत देवता आशा देवी नाम
सेए शोक समर्पयी विमुख भये अभिराम।।श्री।।

संगति– अब प्रश्न के उत्तर के उपक्रम में पर और अपर विद्याओं का नाम लेकर संकीर्तन करते हैं—

तस्मै स होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो विदन्ति परा चैवापरा च ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– शौनक से महर्षि अङ्गिरा ने कहा— परा और अपरा ये दो विद्यायें जानने योग्य हैं। इस प्रकार निश्चय करके ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले और ब्रह्म को जाने वाले ब्रह्मविद जानते हैं।। श्री ।।

व्याख्या– प्रश्न– यहाँ शौनक ने जैसा प्रश्न किया उसके अनुसार अंगिरा उत्तर नहीं दे रहे हैं। शौनक का प्रश्न है कि— वह कौन सा तत्व है जिसके जान लेने से सब कुछ जान लिया जाता है? इस उत्तर में अंगिरा को ब्रह्मतत्व की व्याख्या करनी चाहिए थी, पर उन्होंने परात्पर विद्याओं की व्याख्या की। पूँछा गया आम उत्तर मिला बबूल। ऐसा क्यों?

उत्तर– यहाँ सोपानारोहण न्याय से महर्षि अंगिरा पहले परापरा विद्याओं का निर्देश करेंगे फिर अपरा विद्या का निषेध करके परा विद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या का उपदेश किया जायगा। क्योंकि शाखाचन्द्रन्याय से पराविद्या के जान लेने पर ब्रह्मतत्व का ज्ञान होता है। ब्रह्म के जान लिए जाने पर सब कुछ ज्ञात हो जायेगा क्योंकि शौनक जैसे परम गृहासक्त महागृहस्थ को सीधे ब्रह्मतत्व समझाना बहुत कठिन होगा, और शौनक के लिए भी सीधे ब्रह्मतत्व को समझना बहुत दुष्कर कार्य है। गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं कि— घरेलू समस्याओं में कोल्हू के बैल के समान जुता हुआ गृहस्थ सहजता से ब्रह्मतत्व नहीं समझ सकता।। श्री ।।

काम क्रोध मद लोभ रत गृहासक्त दुःख रूप।
ते किमि जानइ रघुपतिहिं मूढ़ परे तम कूप।।

—(मानस उ० ७३ क)

इसलिए अंगिराजी ने शौनक को धीरे-धीरे ब्रह्मतत्व समझाने का निर्णय लिया। क्योंकि विद्या, धन, पर्वतारोहण, कथड़ी का निर्माण और दुरूहमार्ग का चलना, इन पाँचों में जल्दवाजी से हानि ही हाती है।। श्री ।।

शनैः विद्या शनैर्वित्तं शनैः पर्वतलंघनम्।
शनैः कन्था शनैः पन्था पञ्चैतानि शनैः शनैः ।।श्री।।

संगति– अब परा और अपरा विद्या को विश्लेषित करते हैं।। श्री ।।

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽर्थवेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरूक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– उनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष इन दश विद्याओं को अपरा विद्या कहते हैं और जिससे सर्वव्यापी अक्षर परमात्मा का ज्ञान होता है वही उपनिषद् प्रतिपाद्य परा विद्या है। और उसी को वेदान्त विद्या, आध्यात्म विद्या, ब्रह्मविद्या, आन्विक्षिकी इत्यादि नामों से जाना जाता है। यद्यपि उपनिषद् भी वेद का ज्ञानकाण्डीय भाग है। जो ऋग्वेद, युजुर्वेद, सामवेद और अथर्वेद में विद्यमान है। यदि इनमें इसका अन्तर्भाव माना जाय तो यह भी अपरा विद्या हो जायेगी। यदि इसे पृथक रखा जाय तब वेदमूलक न होने से उपनिषद् विद्या में प्रमाण ही नहीं रह जायेगा। इसलिए यहाँ ब्राह्मणवशिष्ठन्याय से साक्षात् ब्रह्मप्रतिपादक होने के कारण इसे वैदिक होने पर भी पृथक माना जाता है। जैसे ब्राह्मण होने पर भी विशिष्ट ब्राह्मण होने के कारण वशिष्ठ का पृथक संकीर्तन किया गया है।। श्री ।।

फलतः अपराविद्या में उपनिषद् भाग से अतिरिक्त चारो वेदों की चर्चा है। और पराविद्या के रूप में केवल ज्ञानकाण्ड की।। श्री ।।

संगति– वह अक्षर ब्रह्म कैसा है ? जिसकी चर्चा अपरा विद्या द्वारा की जायेगी। इस पर कहते हैं—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे शौनक! वह ब्रह्म अद्रेश्य है अर्थात् प्राकृत नेत्रों से नहीं देखा जा सकता। वह अग्राह्य है, उसे और कोई इन्द्रियाँ विषय नहीं बना सकती। वह अगोत्र है, क्योंकि सबको उसी परमात्मा ने जन्म दिया है। वह अवर्ण है, उसका नीला, पीला काला कोई वर्ण निश्चित नहीं है, अथवा वह अनुपम वर्ण वाला है। अर्थात् परमेश्वर के लोकोत्तर श्यामवर्ण की किसी से उपमा नही दी जा सकती। वह प्राकृत नेत्र और श्रवण से रहित तथा अनेक आँखों और कानों वाला है। वह सामान्य हाथ और चरणों से हीन तथा अनेक हाथों और अनेक चरणों

वाला है। वह नित्य, अविनाशी, सर्वव्यापक, सबमें व्याप्त, सूक्ष्म जीवात्मा से भी सूक्ष्म, अविनश्वर और सभी प्राणियों का जन्मदाता है। ऐसे मन, वाणी, शरीर एवं ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों से अगोचर उस ब्रह्म का धीर लोग पराविद्या के द्वारा साक्षात्कार करते हैं॥ श्री॥

संगति– पूर्व मन्त्रमें ब्रह्मयोनि को भूतयोनि कहा गया है। यहाँ जिज्ञासा होती है कि— वह ब्रह्म प्राणियों को कैसे जन्म देता है। वह किसी से सहायता लेता है या किसी सहायक के बिना जन्म देता है? इस जिज्ञासा पर कहते हैं—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्॥७॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अंगिरा कहते हैं— हे शौनक! ब्रह्म इस जगत् का अभिन्न निमित्तोपादानकारण है। चूँकि वह माया द्वारा जगत् की सर्जना करता है इसलिए निमित्त है और उपने चेतनांश से जगत् की सर्जना करता है इससे उपादान भी वही है। इस विषय को स्पष्ट समझने के लिए यहाँ मकड़ी, पृथ्वी और पुरुष ये तीन उदाहरण दिये जा रहे हैं। जैसे मकड़ी स्वयं अपने मुख के राल से जाला बनाती है और उसे निगल भी जाती है उसी प्रकार परमात्मा अपने चेतनांश से जगत् रूप जाल बनाते हैं और प्रलय में उसे स्वयं में विलीन कर लेते हैं। जिस प्रकार पृथ्वी में स्वयं औषधियाँ उत्पन्न होतीं हैं, उसी प्रकार जीवों के कर्मफल बीजरूप से भगवान् विराजमान रहते हैं और जीव भी बीजरूप से भगवान् में विलीन रहता है। समय पाकर पृथ्वी में वनस्पतियों की भाँति प्रकट हो जाता है, जिस प्रकार चेतन पुरुष से अचेतन केश रोम आदि उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार नित्य परमात्मा से अनित्य संसार भी उत्पन्न होता है। इस प्रकार मन्त्र के प्रथम चरण में ऊर्णनाभि के दृष्टांत से भगवान् को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण कहा गया। द्वितीय चरण में पृथ्वी औषधि के दृष्टांत से भगवान् को ही चेतन जीव का उत्पत्ति स्थान कहा गया है। तथा तृतीय चरण में पुरुष केशलोम दृष्टांत से भगवान् से ही अचित् की उत्पत्ति कही गयी॥ श्री॥

संगति– फिर उसी प्रसंग की चर्चा करते हैं—

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ।।८।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे अंगिरा! भगवान् अपने तपरूप संकल्प से चयन के विषय होते हैं अर्थात् सगुण साकार रूप होकर विराट बन जाते हैं। उन्हीं से अन्न अर्थात् आग्नेय पदार्थ, जीवों की भोगसामग्री और हिरण्यगर्भ ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं। उनसे प्राण अर्थात् जीवनशक्ति प्रकट होती हैं। उस से मन, उसी से सत्य और ब्रह्मलोक एवं उसी ब्रह्मलोक से अन्य लोक उत्पन्न होते हैं। उनमें कर्म तथा उन कर्मों में अमृत रूप कर्मफल उत्पन्न होता है।। श्री ।।

संगति– अब प्रकरण का उपसंहार करते हैं—

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते ।।९।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे शौनक! जो परमात्मा सर्वज्ञ है अर्थात् सबको जानते हैं, जो सर्ववित् अर्थात् जीवों के सभी शुभाशुभ कर्म को जानने वाले हैं, सभी प्राप्त योग्य वस्तुएँ जिन्हें प्राप्त हैं, जिनका संकल्प ज्ञान मय है अर्थात् जो जीवों का शुभाशुभ जानकर ही उनके लिए उपभोग सामग्रियों का संकलन करते हैं, उन्हीं परमात्मा से इस नामरूपमय ब्रह्मात्मक जगत् की और नाम के द्वारा रूपित अर्थात् संकेतित होने वाले इस ब्रह्महिरण्यगर्भ की उत्पत्ति होती है। अर्थात् समस्त चिदचिदात्मक जगत् के परमात्मा ही अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है।। श्री ।।

।। इति श्रीमुण्डकोपनिषद् के प्रथम मुण्डक के प्रथमखण्ड पर तुलसीपीठाधीश्वर श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य कृत श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पन्न हुआ ।।

।। **श्रीराघवः शन्तनोतु** ।।

●

।। अथ द्वितीयखण्ड ।।

संगति– सामान्यतः धर्म प्रवृत्ति निवृत्ति और प्रपत्ति इन तीन लक्षणों में विभक्त है। संसार में आसक्त लोगों के लिए प्रवृत्तिलक्षण धर्म, विरक्तों के लिए निवृत्तिलक्षण धर्म तथा भगवद्भक्तों के लिए प्रपत्तिलक्षण धर्म कहा गया है। अब इन तीनों लोगों के लिए श्रुति सामान्य उपदेश कर रही है ।। श्री ।।

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि । तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे मनुष्यों! यह पूर्ण सत्य है कि– कर्मों का वैदिक मन्त्रों में क्रान्तद्रष्टा ऋषियों ने साक्षात्कार किया। वे ही यज्ञरूप कर्म त्रेतायुग में और वेदत्रयी में बहुत प्रकार से फैले हैं। उन्हें त्रैम्य बुद्धि द्वारा और त्रेतायुग में श्रीरामचरित के माध्यम से रामायणादि द्वारा अनुभव करो। हे मनुष्यों सत्यरूप परमात्मा की कामना करते हुए तुम लोग इन्हीं नियत कर्मों को अपने जीवन में आचरण करो, इस मनुष्य लोक में तुम्हारे लिए यही पुण्य का मार्ग है। अर्थात् मनुष्य को अकर्मण्य नहीं रहना चाहिए ।। श्री ।।

संगति– अब पाँच मन्त्रों से वेदान्त की पूर्वपक्षरूप, त्रेता में प्रसिद्ध, कर्मकाण्ड की पद्धतिरूप, पूर्वमीमांसा की मान्यता का वर्णन करते हैं–

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने ।
तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीः प्रतिपादयेत् ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे शौनक! जब ईंधन से अग्नि पूर्ण प्रज्ज्वलित हो जाय और अग्नि की लपटें खेलनें लग जायें, उसी समय घी की दो भागों के बीच में भिन्न-भिन्न देवताओं के उद्देश्य से आहुति देनी चाहिए ।। श्री ।।

संगति– अब अग्निहोत्र में पूर्वभूमिका में आने वाले दर्श, पौर्णमास आदि विधियों का वर्णन करते हैं–

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च।
अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुतमासप्तमांस्तस्य लोकान् हिनस्ति ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे शौनक! जिनके अग्नि होत्र में दर्श पौणमास, आग्रायण चातुर्मास्य, नियमों का पालन नहीं हुआ हो, जहाँ अतिथि भोजन, बलिवैश्वदेव विधि नहीं की गयी हो, जहाँ ठीक-ठीक आहुति नहीं दी गयी हो, और जहाँ शास्त्रीयमन्त्रों का प्रयोग नहीं हुआ हो, वह अग्निहोत्री की सात पीढ़ियों का हनन कर देता है। इसलिए अग्निहोत्र में विधियों का पालन करना ही चाहिए।। श्री।।

संगति– अब खेलती हुई अग्नि ज्वाला की जिह्वारूपिणी सात अवस्थाओं का वर्णन करते हैं।। श्री।।

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
स्फुलिङ्गनी विश्वरूची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– प्रज्वलित अग्नि की सात अवस्थाएँ ही मानो उनकी सात जिह्वायें हैं। कालेवर्ण वाली, अत्यन्त कराल, मन के समान वेगवाली, लालवर्ण वाली, कुछ धुंधले वर्ण वाली, अनेक छोटे-छोटे अंगारों से युक्त, चारो ओर प्रकाश फैलाने वाली, ऐसी सात अवस्थाओं को प्राप्त करने वाली, प्रकाशवान हवन की अग्निज्वाला की ये सात प्रकार की लपटें ही मानो उनकी सात जिह्वायें हैं।। श्री।।

संगति– अब अग्निहोत्र में ठीक-ठीक आहुति देने का फल कहते हैं—

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्।
तं नयन्त्येता सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार इन सात अवस्थाओं से युक्त अग्नियों में जो विधिवत आहुति देता हुआ अग्निहोत्र का पालन करता है, उसे ये आहुतियाँ सूर्य की किरणों के साथ उस ब्रह्मलोक में ले जाती है जहाँ एक मात्र देवताओं के प्रतिनिधि भगवान् ब्रह्मा और उनके भी नियन्ता परमेश्वर अधिकृत रूप से निवास करते हैं।। श्री।।

संगति– इसी फल का और आगे वर्णन करते हैं—

एह्योहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– ज़ो अग्निहोत्री विधिपूर्वक आहुति देता है उस महापुरुष को महाप्रयाण के समय उसकी दी हुई आहुतियाँ ही सुन्दर प्रकाश वाली परिचारिकाओं की भाँति उपस्थित होकर उसकी पूजा करती हुयीं, आओ-आओ इस प्रकार प्रियवाणी बोलती हुयीं, अग्निहोत्री को सम्मान पूर्वक सूर्य की किरणों की सहायता से ब्रह्मलोक ले जातीं हैं। यही है तुम लोगों का पुण्यमय ब्रह्मलोक ।। श्री ।।

संगति– इस प्रकार पाँच मंत्रों में वर्णित, पूर्वमीमांसामय कर्मकाण्ड में कहीं साधक की आसक्ति न बढ़ जाय, अत: उसमें अनासक्ति उत्पन्न करने के लिए उत्तरमीमांसा अर्थात् वेदान्तप्रकरण का प्रारम्भ करते हैं—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ।।७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे शौनक! जिस यज्ञ में सोलह ऋत्विज यजमान तथा यजमानपत्नी इन अट्ठारह लोगों द्वारा सम्पादित ज्ञानशून्य कर्म होता है, ऐसे यज्ञरूप जहाज, अदृढ़ अर्थात् बहुत हलके और मजबूत नहीं होते, जो संसार सागर में बहुत देर तक नहीं टिक पाते डूब जाते हैं। यज्ञ तो टूटी पुरानी सड़ी गली, नौका की भाँति है। इन्हें तो संसार सागर अपनी हल्की फुल्की लहरों से भी डुबा सकता है। इसमें तो ज्ञानप्लव और भगवान् के चरणकमल का जहाज ही सफल हो पाता है। इन्ही यज्ञरूप कमजोर नौकाओं की ही श्रेय बुद्धि से जो मूढ़ लोग प्रशंसा करके संसारसागर पार करने के लिए स्वीकार लेते हैं, वे निश्चित ही डूबते हैं। और जन्ममरणरूप संसार को प्राप्त कर लेते हैं।। श्री ।।

व्याख्या– इस मन्त्र में श्रुति ज्ञानशून्य कर्म की निन्दा करती है। उनका आशय यह है कि— तन से वेद विहितकर्म करो, मन से भगवान् का स्मरण करो और वचन से भगवन्नामसंकीर्तन करो। क्योंकि भगवान् के चरण ही भवसागर के जहाज हैं।। श्री ।।

तन से कर्म करो विधि नाना। मन राखो जँह कृपा निधाना ।।

इस मन्त्र में ऋषि ने बहुत स्पष्ट कह दिया कि— ज्ञाननिरपेक्ष कर्म भव-बंधन में डालता है और ज्ञानसमुच्चित कर्म, कर्मयोग बन कर योगेश्वर प्रभु से मिला देता है ॥ श्री ॥

संगति– श्रुति ज्ञानशून्य कर्मकाण्डियों की फिर निन्दा करती हैं ॥ श्री ॥

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥८॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे शौनक ! जो लोक ज्ञानवैराग्यरूप नेत्र से हीन, कर्मकाण्डी गृहस्थ, गुरुओं द्वारा दीक्षित होकर परमार्थपथ पर जाना चाहते हैं, वे अंधों द्वारा ले जाये जाते हुए अंधों की भाँति परमार्थ पथ से भटक जाते हैं। वे स्वयं को मूर्ख होते हुए भी धीर और पंडित मानते हुए, पंचपर्वा अविद्या में चिपके हुए तथा संसारसागर के बीच डूबते हुए काम, क्रोध आदि कोड़ों से बार-बार पीटे जाते हुए, पुनः-पुनः संसार-सागर में पड़ते रहते हैं। अर्थात् उनका कभी मोक्ष नहीं होता। इसलिए कभी गृहासक्त, अवैष्णव, अब्राह्मण को सद्गुरु नहीं बनाना चाहिए ॥ श्री ॥

हरै शिष्य धन शोक न हरई। सो गुरु घोर नरक मा परई ॥

संगति– अब जीव संसारसागर में क्यों पड़ते हैं ? श्रुति यह हेतु भी स्पष्ट कर रही है—

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥९॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे शौनक ! जो नाना प्रकार से अविद्यारूप महानदी के भवरों में चक्कर लगा रहे हैं, वे बाल अर्थात् संसारसागर से सन्तरण के उपाय से अनभिज्ञ हैं। इसलिए "अब तो हम कृतार्थ हो चुके।" इस प्रकार अकृतार्थ होकर भी अभिमान युक्त हो जाते हैं। चूँकि कर्मी अर्थात् कर्म में आशक्त हैं, इसलिए कर्मों में राग होने के कारण वे ब्रह्म को नहीं जानते। इसी कारण काम-क्रोधादिक मानस रोगों से रुग्ण होकर आतुर हो जाते हैं और उनके सत्कर्मों से अर्जित स्वर्ग आदि लोक क्षीण हो जाते हैं और वे तत्काल संसारसागर में गिर जाते हैं ॥ श्री ॥

व्याख्या– कर्मिणः यहाँ कर्म शब्द अदन्त है, नान्त नहीं। इसीलिए अदन्त प्रातिपदिक से इनि प्रत्यय करके कर्मी शब्द बना है। गीता जी में भी 'कर्मी' शब्द का व्यवहार हुआ है— कर्मिभ्यचाधिको योगी। (गीता–६/४६) ॥ श्री ॥

संगति– फिर कर्म में आसक्त लोगों की निन्दा करते हैं—

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥१०॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे शौनक! इष्टापूर्त अर्थात् श्रौतस्मार्त कर्म को ही सब कर्मों से श्रेष्ठ मानते हुए, मीमांसा की वासना से अत्यन्त मूढ हुए, कर्मासक्त लोग कर्मकाण्ड से अतिरिक्त किसी श्रेय को जानते ही नहीं, इसीलिए वे कर्मकाण्डी जन स्वर्गलोक से अपने कर्मों का फल भोग कर पुण्य के क्षीण होने पर मर्त्यलोक में या इससे भी निम्नतर नरक लोक में गिर पड़ते हैं॥ श्री ॥

व्याख्या– 'इष्टं च पूर्तं च इष्टापूर्तं' यहाँ अन्येषामपि दृश्यते (पा०अ०–६-३-१३७) सूत्र से इष्ट शब्द के ह्रस्व अकार को दीर्घ करके इष्टापूर्त शब्द की निष्पत्ति की जाती है। इसी मन्त्र का भावानुवाद भगवान् श्रीकृष्ण ने भी गीता (९-२०-२१) में प्रस्तुत किया है— हे अर्जुन! तीनों वेदों के अनुसार कर्म करने वाले, सोमरस का पान करके पापों को पवित्र करनेवाले, कर्मकाण्डी लोग यज्ञों से मेरा यजन करके मुझ से ही स्वर्गगति की याचना करते हैं। अनन्तर वे पवित्र देवेन्द्रलोक को प्राप्त कर स्वर्ग में अलौकिक देवभोगों को भोगते हैं। वे उस विशाल स्वर्गलोक के सुख को भोग कर पुण्य के क्षीण हो जाने पर फिर मर्त्यलोक में प्रवेश कर लेते हैं। इस प्रकार तीनों वेदों में विहित कर्मों का काम्यपदार्थों की कामना से पालन करते हुए सकाम कर्मी लोग गतागत अर्थात् बारम्बार आवागमन के चक्कर में पड़ते रहते हैं। इस लिए ज्ञान के साथ ही कर्म करना चाहिए ॥ श्री ॥

संगति– अब इससे विपरीत परिव्राजक की गति की प्रसंशा करते हैं ॥ श्री ॥

तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजा प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ।।११।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे शौनक ! इससे विपरीत जो शान्त, श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता, भिक्षुकवृत्ति से जीवन यापन करते हुए, सात्विकतप और सात्विकश्रद्धा का अनुष्ठान करते हुए वन में निवास करते हैं, वे परमहंस परिव्राजकाचार्य त्रिदण्डिवर्य सूर्यमण्डल का भेदन करके रजोगुण से निर्मुक्त होकर उसी दिव्य साकेतलोक को प्राप्त कर लेते हैं, जहाँ अव्ययात्मा अविनाशी शरीर वाले अमृत अर्थात् मरणधर्म से रहित पुराण पुरुषोत्तम भगवान् श्री सीताराम विराजते हैं ।। श्री ।।

संगति– अब ब्रह्म जिज्ञासु को सद्गुरु का वरण कैसे करना चाहिए ? इस सिद्धान्त का वर्णन करते हैं ।। श्री ।।

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरूमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।।१२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– तपस्या, शास्त्र एवं जन्म से विशुद्ध, ब्राह्मण ''इस क्षणभङ्गुर जगत् में नित्य परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती'' इस प्रकार संसार से उपरत होकर, अपने कर्मों द्वारा निर्मित लोकों की परीक्षा करके, ''सब कुछ नष्ट ही हो जायेगा केवल नित्य शुद्ध मुक्त बुद्धि निरवधि निरुपम, निरुपद्रव निःशेष कल्याण गुणगणैक निलय, परमपिता परमेश्वर परमात्मा श्रीसीताराम ही सदैव अपना साथ देंगे'' ऐसा सोच कर दृढ़ वैराग्य धारण कर ले। एवं विशिष्टाद्वैत की पद्धति से उन प्रभु श्रीसीताराम का ध्यान करने के लिए ब्रह्म जिज्ञासु ब्राह्मण, हाथ में समिधा लेकर सगुण साकार ब्रह्म में निष्ठा रखने वाले, जन्म से ब्राह्मण, संस्कार से द्विज, वेदाध्ययन से विप्र ऐसे वेदार्थ पारगन्ता श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ त्रिदण्डी सन्यासी को ही सद्गुरुरूप में वरण करके उनकी शरण में चला जाय ।। श्री ।।

व्याख्या– 'तद्विज्ञानर्थं' का अर्थ है ''तस्य विशिष्टाद्वैतेन ज्ञानार्थम्'' विशिष्टाद्वैतवाद की पद्धति से ब्रह्म का ज्ञान करना चाहिए। तृतीय चरण में प्रयुक्त एवकार का क्रम से विशेषण, विशेष्य तथा क्रिया में अन्वय होने से अन्ययोग, अयोग तथा अत्यंतायोग का विवच्छेद कहा गया है। अर्थात् स

एव गच्छेत्, गुरुमेव गच्छेत्, गच्छेदेव अर्थात् उसी को जाना चाहिए, गुरु के ही पास जाना चाहिए और जाना चाहिए ही ।। श्री ।।

संगति– अब वेदान्त के अध्यापन का प्रकार कहते हैं—

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ।
येनाक्षरं पुरुषं सत्यं प्रोवाच तां तत्वतो ब्रह्मविद्याम् ।।१३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे शौनक! इस प्रकार अपनी शरण में आये हुए, पूर्णरूप से प्रशान्त चित्तवाले, शम से युक्त उस ब्रह्म जिज्ञासु को ब्रह्मविद्यावरिष्ठ विद्वान् उस ब्रह्मविद्या का जीव, जगत्, जगदीश इन तीन तत्वों के सहित उपदेश करे। जिससे वह अविनाशी, सर्वव्यापी और भगवान् वासुदेव के भी निवासस्थान सत्यस्वरूप परमपुरुष श्री सीताराम परब्रह्म को जान सके ।। श्री ।।

व्याख्या– 'प्रोवाच' यहाँ 'व्यत्ययो' बहुलम् सूत्र से लिङ् के अर्थ में लिट् अर्थात् प्रवदेत् के अर्थ में प्रोवाच का प्रयोग है। यहाँ विशेष ध्यान देना चाहिए कि श्रुति ने तस्मै, प्रोवाच, ब्रह्मविद्यां इन तीन शब्दों के माध्यम से स्वयं ही अद्वैतवाद के मेधाडम्बर को निरस्त कर दिया है। क्योंकि यदि जीव और ब्रह्म में स्वरूपगत भेद न होता तो कौन किसको ब्रह्मविद्या का उपदेश करता। यदि कहो कि— यहाँ ब्रह्म में अज्ञानजनित भेद कल्पित है, तो यह कहना इसलिए ठीक नहीं है क्योंकि— अखण्डज्ञानस्वरूप ब्रह्म में अज्ञान आया ही कैसे? यदि यह कहें कि— वास्तव में यह कल्पना भी असत्य है, तो इसकी आवश्यकता क्या पड़ गयी। क्योंकि इससे श्रुति का भूतार्थवाद समाप्त हो जायेगा और वह झूठ बोलने वाली मान ली जायेगी। यदि यह कहो कि— गुरुशिष्य की परम्परा रक्षा के लिए ऐसा करना आवश्यक था, तो एक ही ब्रह्म को गुरुशिष्यपरम्परा की चिन्ता क्यों होने लगी। यदि यह कहो कि— यह तो ब्रह्म का अभिनय मात्र है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अभिनय में भी दर्शक और द्रष्टा दोनों का होना आवश्यक है। द्रष्टा को आनन्दित करने के लिए अभिनय का मंचन किया जाता है। यदि तुम्हारे यहाँ ब्रह्म के अतिरिक्त किसी की सत्ता है ही नहीं तो यह अभिनय दिखाया किसे जा रहा है। यदि कहो स्वयं को। तो

स्वयं को दिखाने की आवश्यकता क्या है। क्योंकि वह तो सब कुछ देख रहा है और वह स्वयं आनन्दमय है॥ श्री॥

अत: निर्विशेषवाद कोई सिद्धान्त नहीं, यह बौद्धसिद्धान्त का अनुकरण मात्र है। वस्तुत: जीव, जगत्, जगदीश ये तीन तत्व हैं। जीव चित् अर्थात् चेतनतत्व है उसी को जीवात्मा, प्रत्यगात्मा आदि नामों से कहा जाता है। वह नित्य निरन्जन और बहुत है। वह भगवान् का दास है। जब बुद्धि, मन, शरीर के कुसंग से उसमें आनात्मा में आत्मबुद्धि हो जाती है, तभी वह संसार के बंधनों में पड़ कर जन्म-मृत्यु के प्रपंच में फंस जाता है। अचित् जगत् है, दोनों से विशिष्ट परमात्मा है। चित् और अचित् अर्थात् जीव और जगत् दोनों ही परमात्मा के शरीर हैं और भगवान् दोनों के शरीरी। इस प्रकार शरीरशरीरिभावसम्बन्ध से जीव और माया दोनों ही परमात्मा के विशेषण हैं। भगवान् का जीव से अविनाभाव सम्बन्ध है। कार्यकारणभेद से ब्रह्म दो प्रकार का है। कारणरूप से परब्रह्म परमात्मा श्री सीताराम साकेत में विराजते हैं। वहाँ भी शुद्ध चित्-अचित् दोनों भगवान् के विशेषण हैं, और कार्यरूप में जब परमात्मा संसार में प्रवेश करते हैं तब उन्हें कार्यब्रह्म कहा जाता है। यहाँ भी वह चित्-अचित् विशिष्ट हैं। इस प्रकार दोनों ही विशिष्ट कार्यकारण ब्रह्मों का अद्वैत होने के कारण ब्रह्म विशिष्टाद्वैत हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द यही तीन यहाँ प्रमाण हैं। यहाँ सत्कार्यवाद है। जगत् भगवान् का परिणाम है विवर्त नहीं। क्योंकि ब्रह्मसूत्रकार ने परणिामात् माना है। परन्तु यह परिणाम शरीरी में नहीं प्रत्युत भगवान् की शरीरभूत प्रकृति में होता है। इस प्रकार इस प्रकरण में स्वयं भगवती श्रुति ने ब्रह्म से जीव की पृथक् सत्ता स्वीकार करते हुए अद्वैतवादसिद्धान्त को अश्रौत सिद्ध कर दिया॥ श्री॥

॥ इति श्रीमुण्डकोपनिषद् के प्रथम मुण्डक के द्वितीयखण्ड पर तुलसीपीठाधीश्वर श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य कृत श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पन्न हुआ ॥

॥ श्रीराघवः शन्तनोतु ॥

•

।। द्वितीय मुण्डक ।।

।। अथ प्रथमखण्ड ।।

संगति– अब समस्त संसार के अभिन्ननिमित्तोपादन कारण के रूप में ब्रह्म का निर्वचन करते हैं।। श्री ।।

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्वि-
स्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवा पियन्ति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अंगिरा जी शौनक से कहते हैं— हे सोम्य ! जिस प्रकार जाज्वल्यमान अग्नि से समानरूपवाली हजारों लपटें उत्पन्न होती हैं और फिर उसी में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार उस अक्षर परमात्मा से हजारों जीव पदार्थ उत्पन्न होते हैं और उन्हीं में विलीन हो जाते हैं। इसी से जगत् के प्रति ब्रह्म की अभिन्ननिमित्तोपादानता सिद्ध हो जाती हैं।। श्री ।।

संगति– अब जीवों के अभिन्न निमित्तोपादनकारण ब्रह्म की जीव और जगत् की विलक्षणता का वर्णन करते हैं।। श्री ।।

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे सोम्य! वह परमात्मा जीव से बहुत विलक्षण हैं। जीव लौकिक और परमात्मा दिव्य है। जीव मूर्त है अर्थात् उसमें काम क्रोधादि विकार प्रसरित होते हैं, किन्तु परमात्मा अमूर्त हैं, उनमें किसी भी विकार का प्रसार नहीं होता। भगवान् बाह्य और आन्तर अर्थात् प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही ज्ञानों से सम्पन्न हैं। वे अजन्मा हैं। ईश्वर प्राण से भिन्न हैं, वे मन भी नहीं हैं अर्थात् मन बुद्धि अहंकार युक्ति से विलक्षण हैं। वे शुद्ध अर्थात् जीवात्मा से परे जो अव्यक्तरूप जीवमाया है, उससे भी परे हैं। कठोपनिषद् के प्रथमाध्याय की तृतीय वल्ली में इस तथ्य का विशद्विवेचन किया गया है।। श्री ।।

संगति– अब परमात्मा से ही जीव के भोग पदार्थों की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं—

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे शौनक! भगवान् के विशेषणीभूत अचित् अंश से ही प्राण, मन, सभी इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, अग्नि, जल और सबको धारण करने वाली पृथ्वी, ये सब उत्पन्न होते हैं।। श्री ।।

संगति– अब भगवती श्रुति जगत् के साथ भगवान् के शरीरशरीरि-भावसम्बन्ध का वर्णन करती है— जगत् भगवान् का शरीर है। यह वात वाल्मीकिरामायण में भी कही गयी है— 'जगत् सर्वं शरीरं ते' ब्रह्माजी कहते हैं— हे प्रभो सारा संसार आप का शरीर है। श्रीमद्भागवत में भी महाराज निमि से योगेश्वर कहते हैं— आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, सभी प्राणी, दिशायें, वृक्ष, नदी, समुद्र और इस जगत् में दीख पड़ने वाले सभी पदार्थ भगवान् का शरीर है। ऐसा मान कर अनन्य साधक को सभी के प्रति प्रणाम करना चाहिए। इसी रहस्य को अगले मन्त्रमें कहते हैं—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे शौनक! यह परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियों की अन्तरात्मा अर्थात् शरीरी हैं। अग्नि ही उनका सिर है, चन्द्र सूर्य परमेश्वर के नेत्र हैं, दिशायें उनका श्रवण हैं, विविध शाखाओं में विस्तृत वेद भगवान् की वाणी हैं, वायु ही भगवान् का प्राण हैं, विश्व अथवा विश्वात्मक आकाश भगवान् का हृदय है और पृथ्वी ही भगवान् का चरण है।

अग्नि शीश है परमेश्वर का, चन्द्र सूर्य परमेश नयन।
दिशा श्रवण श्रुति गण है वाणी, वायु प्राणमय सर्व शयन।।
विस्तृत व्योम हृदय है प्रभु का, चारु चरण है विपुल मही।
विश्वरूप में राम ब्रह्म है औपनिषद तात्पर्य यही।।

संगति– अब भगवान् से ही प्रजा की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं।। श्री ।।

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम्।
पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात्सम्प्रसूताः ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे शौनक! सूर्य ही जिसकी समिधा है वह अग्नि भी भगवान् से उत्पन्न हुआ है। उन्हीं से द्वितीय आहुति का

अधिकरण चन्द्रमा उत्पन्न हुए तथा तृतीय आहुति का आधार परजन्य एवं पृथ्वी पर वर्तमान सभी औषधियाँ भगवान् से ही उत्पन्न हुई है। उन्हीं औषधियों के परिणाम अन्न से बना हुआ पुरुष नारी में पंचम आहुति के रूप में गर्भाधान करता है। इस प्रकार अनेक प्रजायें परमात्मा से ही उत्पन्न हुई हैं॥ श्री॥

संगति– और भी कर्मकाण्ड सम्बन्धी उपकरण भगवान् से ही उत्पन्न हुए हैं। इस विषय को स्पष्ट करते हैं॥ श्री॥

तस्मादृचः साम यजूषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च।
संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः॥६॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जिस परमात्मा में विराजमान सूर्य और चन्द्रमा सबको पवित्र कर रहे हैं, उन्हीं परमेश्वर से ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, दीक्षा, यज्ञ अर्थात् निष्काम अश्वमेधादि तथा क्रतु अर्थात् सकाम श्रौत यज्ञ, आयुष्टोम, ज्योतिष्टोम पुत्रेष्टि इत्यादि एवं उनकी दक्षिणा, यज्ञ के उपयुक्त श्रेष्ठ सम्वत्सर, यजमान, यजमानपत्नी और सभी लोग उत्पन्न हुए हैं॥ श्री॥

संगति– अब भगवान् से ही देवताओं की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं—

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि।
प्राणपानौ ब्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च॥७॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे शौनक! उन्हीं परमात्मा से विविध प्रकार के देवता, साध्यगण, मनुष्य, पशु, पक्षी, प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान, ब्रीहि, जौ आदि धान्य, चान्द्रायण आदि तप, आस्तिक बुद्धि, सत्यभाषण, सत्याचरण, ब्रह्मचर्य और सभी वेदविधियाँ प्रकट हुई हैं॥ श्री॥

संगति– अब भगवान् से ही प्राणादि की उत्पत्ति भी कहते हैं—

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त॥८॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे शौनक! वे परमेश्वर परब्रह्म परमात्मा उन सभी लोकों के अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हैं, जिनमें समस्त प्राणी जाति निवास करती है। उन्हीं परमपिता परमात्मा से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन

और बुद्धि ये सातों प्राणधारण के साधन उत्पन्न हुए हैं। इन सातों के सात विषय— दर्शन, श्रवण, रसन, घ्राणन, स्पर्शन, संकल्प, अध्यवसाय, जिन्हें हम अर्चिष शब्द से भी जानते हैं, ये भी भगवान् से ही उत्पन्न हुए हैं। उनकी सात समिधायें परमेश्वर से ही उत्पन्न हुई हैं। 'किं बहुना' जिनमें सप्त-सप्त अर्थात् सात के सात गुने उच्छ्वास वायु विचरण करते रहते हैं और सबके हृदय में विराजते हैं, ऐसे भू भूव: स्व: मह: जन: तप: सत्यं ये सात लोक भी परमात्मा से ही उत्पन्न हुए हैं॥ श्री॥

संगति– इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण जगत् भगवान् से ही उत्पन्न हुआ है इस पर कहते हैं—

अत: समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धव: सर्वरूपा:।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा॥९॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे शौनक! जगत् के अभिन्न निमित्तोपादान-कारणभूत इन्हीं परमात्मा से अर्थात् इन्हीं के शरीरभूत अचित् प्रकृति से सभी समुद्र तथा पर्वत उत्पन्न हुए हैं। सभी रूपों वाली अर्थात् पूर्ववाहनी तथा पश्चिमवाहिनी सभी नदियाँ इन्हीं परमात्मा से उत्पन्न होकर सतत् बह रही हैं। इन्हीं से सभी औषधिया प्रस्तुत हैं। जिस रस से जीवन प्राप्त किये हुए पंञ्चभूतों से निर्मित मानवशरीर में अनतर्यामी रूप में यह परमात्मा विराजते हैं वह रस भी इन्हीं परमात्मा से प्रस्तुत हुआ है॥ श्री॥

संगति– परिशेष चर्चा भी कर रहे हैं—

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म
तपो ब्रह्म परामृतम्।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां
सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य॥१०॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अंगिरा जी शौनक जी से कहते हैं— हे सौम्य! यह वैदिक कर्म, तप श्रेष्ठ अमृत, अर्थात् भगवत् भजनानन्द, यह सब कुछ पुरुष ही है अर्थात् पुरुषात्मक है। यह सम्पूर्ण चिदचिदात्मक जगत् परमपुरुष परमात्मा का शरीर है इसीलिए यहाँ 'इदं पुरुष:' यह पुरुष है, इस प्रकार शरीर और शरीरी दोनों के लिए प्रथमा एकवचन का प्रयोग करके सामानाधिकारण्य दिखाया गया है। लोक में भी शरीर और शरीरी में

अभेद व्यवहार ही देखा जाता है। जैसे मोहन के शरीर के पीटे जाने पर लोग कहते हैं— आज मोहन पीटा गया। कान के बहरे होने पर कहा जाता है— चित्रसेन बहरा हो गया। वाणी के मूक होने पर कहा जाता है— मैत्रेयी गूँगी हो गयी। उसी प्रकार यहाँ भी 'पुरुष इदं' कह कर जगत् और जगदीश में शरीरशरीरि-भावसम्बन्ध से औपचारिक अभेद कहा गया है। हे सोम्य! जीव के हृदयगुफा में विराजमान उस चिदचिद्विशिष्ट परमात्मा को इस प्रकार अर्थात् जगत् के अभिन्ननिमित्तोपादान रूप में विशिष्टाद्वैत की पद्धति से जानता है, वह जड़चेतनात्मक ग्रंन्थियों को तोड़ कर यहीं इसी जीवन में निर्ग्रन्थ तथा जीवन्मुक्त हो जाता है॥ श्री॥

॥ इति श्रीमुण्डकोपनिषद् के द्वितीय मुण्डक के प्रथमखण्ड पर तुलसीपीठाधीश्वर श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य कृत श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पन्न हुआ॥

॥ श्रीराघवः शन्तनोतु॥

•

॥ अथ द्वितीयखण्ड॥

संगति– अब कार्यकारणों से अतीत, विशष्टाद्वैतवेदान्तवेद्य, सकल-जगदभिन्ननिमित्तोपादानकारण परब्रह्म परमात्मा का अचिन्त्यगुणसंकीर्तन करते हुए श्रुति कहती हैं—

आविः संनिहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम्। एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम्॥१॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– भगवती श्रुति कहती हैं— हे पुत्रो! जो सब के हृदयाशयों में सदैव विराजमान रहते हैं, जो सबसे श्रेष्ठ तथा सबके द्वारा गमनीय हैं, जिनमें आसक्त यह सम्पूर्ण संसार स्थावरवृक्षादि के रूप में 'ऐजत्' अर्थात् कम्पन हलचल कर रहा है, यह जीव प्राण धारण कर रहा है तथा पशुवर्ग आँखे बंद करता और खोलता है, ऐसे सदैव अपने निकट रहने वाले सत् अर्थात् जीव असत् अर्थात् जगत् इन दोनों के लिए वरणीय, विज्ञान अर्थात् बुद्धि और जीवात्मा से भी सूक्ष्म उस परमपिता परमात्मा को जानो॥ श्री॥

संगति– अब लक्ष्य का रूपक प्रस्तुत करते हुए ब्रह्म का निरूपण करते हैं। तात्पर्य यह है कि— जैसे कोई लक्ष्य में कुशल आखेटक अत्यन्त सावधानी से अचूक निशाना लगाता हुआ, धनुष से छोड़े हुए बाण से लक्ष्य भेद देता है, उसी प्रकार साधक को ओंकार से अपनी आत्मा का सम्पर्क करा कर, ब्रह्म साक्षात्कार में बाधक माया का निरसन करके, लक्ष्यरूप ब्रह्म से बाणरूप प्रत्यगात्मा को जोड़ देना चाहिए ।। श्री ।।

यदर्चितमद्यदणुभ्योऽणु च यस्मिंल्लोका निहिता लोकिनश्च तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः । तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे सोम्य! जो परमप्रकाशरूप है, जो अणु जीवों की अपेक्षा भी सूक्ष्म है, जिससे वह उनके हृदयों में रह सके, जिसके शरीर में भूरादिलोक और इन्द्रादि देवता विराजते हैं, वही ब्रह्म सत्य है, वही अक्षर है, वही मरण धरम से रहित है। हे सोम्य! उसी को वेधव्य समझो। जैसे बाण से लक्ष्य भेदा जाता है, उसी प्रकार जीवात्मा से परमात्मा को जोड़ दो ।। श्री ।।

संगति– अब दो मंत्रों में ब्रह्म लक्ष्यभेद का रूपक प्रस्तुत कर रहे हैं ।। श्री ।।

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत ।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ।।३।।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्म ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अंगिरा शौनक से कहते हैं— हे सोम्य! उपनिषद् में प्रसिद्ध प्रणव को ही धनुषनामक महास्त्र के रूप में ग्रहण करके, ब्रह्म के भाव में निमग्न चित्त से प्रणवरूप धनुष को कान तक खींच कर अर्थात् सद्गुरुमुख से प्रणव का श्रवण करके, उसी पर उपासना के कारण नुकीले आत्मारूप बाण का संधान करना चाहिए। हे सोम्य! ब्रह्म को ही वेधव्य लक्ष्य समझो। तात्पर्य यह है कि— जब तुम्हारा प्रत्यगात्मतत्व प्रणव को माध्यम बना कर ब्रह्म का अनुसंधान करेगा तब उसे लक्ष्य की प्राप्ति हो जायेगी। हे शौनक! प्रणव ही धनुष, आत्मा बाण तथा ब्रह्म ही उसका लक्ष्य कहा जाता है, अर्थात् जैसे— धनुष पर चढ़े बाण द्वारा

लक्ष्यभेद होता है, उसी प्रकार प्रणव के उपासक जीवात्मा द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार करणीय है। अतः अप्रमत्त होकर प्रमादशून्य अन्तःकरण से इस लक्ष्य का भेद करना चाहिए। जिससे बाण की भाँति यह जीवात्मा भी तन्मय अर्थात् ब्रह्ममय हो जाय। यहाँ प्राचुर्य में मयट् प्रत्यय है॥ श्री॥

संगति– अंगिरा जी शौनक से फिर कहते हैं—

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः॥५॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे सोम्य! जिस परमात्मा में स्वर्ग, अंतरिक्ष तथा पृथ्वी एवं सभी प्राणों के साथ मन ओतप्रोत है। हे शिष्यो! उसी एक जगत् और जीव के शरीरी, कल्याणगुणगणनिलय, निरुपम, निरवधिक आनन्द सिन्धु, परमात्मा को ही जानो, उनसे अतिरिक्त अन्य वाणियों को छोड़ दो। क्योंकि वही यह परमात्मा अमृत परमानन्द के सेतु धारण करते हैं और मरण धर्म से रहित अमृत रूप इस जीवात्मा के लिए संसार सागर के सेतु हैं॥ श्री॥

संगति– अब जगत् के साथ परमात्मा का सम्बन्ध कहते हैं॥ श्री॥

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः
स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं
स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्॥६॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अंगिरा कहते हैं कि— जिस प्रकार रथ की नाभि में अरायें चिपकी रहती हैं, उसी प्रकार जिस परमात्मा में सभी नाड़िया विराजमान रहती हैं और जो बहुत प्रकार से जन्म लेता हुआ सबके हृदयान्तर में विचरण करता रहता है, ऐसे परमात्मा को ओंकार का जप करते हुए ध्यान का विषय बनाओ। अंधकाररूप महासागर से पार जाने के लिए तुम सब का कल्याण हो॥ श्री॥

संगति– अब परमात्मा की प्रतिष्ठा का वर्णन करते हैं—

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः॥७॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे शौनक! जो परमात्मा सब कुछ जानने वाले एवं वस्तुओं के प्राप्तकर्त्ता हैं, वह परमात्मा अलौकिक महाकाश के

समान व्यापक ब्रह्मपुर अर्थात् साकेतलोक में श्रीसीता के सहित विराजमान हैं और भूमण्डल पर भी उन्हीं प्रभु श्रीराम की महिमा हई हैं।। श्री ।।

संगति– अब भोग्यवर्ग में भी भगवान् की प्रतिष्ठा कह रहे हैं।। श्री ।।

मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ।।८।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे शौनक! परमात्मा मनोमय हैं। वे मन के समान सूक्ष्म तथा मन के समान वेग से भक्त को समझ जाने वाले हैं। अनन्त भक्तों के प्रचुर मन उन्हीं में रहते हैं। परमेश्वर प्राणरूप शरीर के नायक हैं। वे हृदय को ही अपना मन्दिर बना कर अन्न अर्थात् भोजन करने योग्य वस्तु में भी स्वाद के रूप में प्रतिष्ठित रहते हैं। जिनका स्वरूप ही आनन्द है तथा अमृतमय और मरणधर्म से वर्जित हैं जो परमात्मा सदा एक रस रह कर प्रकाशीत रहते हैं, उन्हें धीरजन निर्मल बुद्धि से सेवक-सेव्यभाव सम्बन्ध द्वारा साक्षात्कार कर लेते हैं।। श्री ।।

संगति– अब ब्रह्मदर्शन का फल कहते हैं—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।९।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे शौनक! परमात्मा परावर हैं क्योंकि 'पर' जीवात्मा 'अवर' अचिद्वर्ग के साथ परमेश्वर ही रहते हैं। और पर जीवात्मा अवर विशेषणरूप में जहाँ रहते हैं, ऐसे उन परावर परमात्मा का जब साधक से साक्षात्कार हो जाता है तब उसकी जड़चेतनात्मक ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं, उसी समय उसके आत्मानात्मपरमात्मविषयक सभी संदेह छिन्न हो जाते हैं। और तत्काल ही उस साधक के प्रारब्ध, क्रियमाण और संचित सारे कर्मफलों के सहित नष्ट हो जाते हैं। भगवान् सच्चिदानन्दमय हैं। अतः उनके दर्शन करते ही प्रभु के सत् स्वरूप से साधक की ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं। परमेश्वर के चिद्घनस्वरूप से साधक के संदेह निवृत्त हो जाते हैं और भगवान् की आनन्द महासरिता में जीव के महाकर्म भी वह जाते हैं।। श्री ।।

संगति– अब भगवती श्रुति ब्रह्मधाम की महिमा कहती है।। श्री ।।

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
यच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ।।१०।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे शौनक ! स्वर्ग के समान प्रकाशवान श्रेष्ठकोष रूप साकेतलोक में, रजोगुण से रहित समस्त कलाओं को समेटे हुए, जो निर्दोष श्रीरामरूप परब्रह्म विराजमान हैं तथा जो सूर्य-चन्द्र-अग्नि इन तीन ज्योतियों की भी ज्योति अर्थात् सभी प्रकाशों के परमप्रकाश हैं, उन परमेश्वर को आत्मवेत्ता ही जानते हैं। स्वयं को दास और परमेश्वर को अपना स्वामी समझना ही आत्मज्ञान और आत्मदर्शन हैं। इस प्रकार जो अपने जीवात्मतत्व को परमात्मा के सेवकरूप में जान लेते हैं, वे परमात्मा को भी जान लेते हैं ।। श्री ।।

संगति– अब भगवती श्रुति उस ब्रह्मधाम की प्रकाशकता का वर्णन करती हैं जहाँ परमप्रकाशक परमात्मा प्रतिष्ठित हैं ।। श्री ।।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युते भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।११।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे शौनक ! परमात्मा के उस लोकोत्तर साकेत लोक में न सूर्य प्रकाशित होते हैं, न ही चन्द्रमा और तारागण, न ही वहाँ बिजलियाँ प्रकाशित हो पाती हैं तो फिर यह सामान्य अग्नि वहाँ कैसे प्रकाशित होगा। क्योंकि सबके प्रकाशक परमात्मा वहाँ विराजते हैं। उन्हीं परमात्मा के प्रकाशित होते रहने पर यह सब सूर्य, चन्द्र, तारा, विद्युत, प्रकाशकमण्डल प्रकाशित हो रहा है। उन्हीं परमात्मा के प्रकाश से यह सम्पूर्ण चराचर प्रकाशित है। इसी प्रकार इस परमधाम की चर्चा गीता (१५/६) में की गयी हैं। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं— हे अर्जुन ! मेरा वह परमधाम इतना अलौकिक है कि जिसे सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि प्रकाशित नहीं कर पाते और जहाँ जाकर मुक्तजन फिर संसार में लौट कर नहीं आते ।। श्री ।।

संगति– अब श्रुति ब्रह्म की सर्वव्यापकता का वर्णन करती हैं ।। श्री ।।

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ।।१२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे शौनक ! परब्रह्म परमात्मा सबसे श्रेष्ठ हैं। सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म का शरीर होने से ब्रह्ममय है। जहाँ भी दृष्टि डालो

वहाँ ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है। यह ब्रह्म अमृत है। हमारे आगे भी यही ब्रह्म हैं और हमारे पीछे भी यही। हमारे दहिनी ओर भी यही ब्रह्म विराज रहा है और बायीं ओर भी यही ब्रह्म विद्यमान हैं। हमारे नीचे भी यही ब्रह्म व्यवस्थित होकर हमें गोद में लिए हुए हैं और हमारे ऊपर फैला हुआ यही ब्रह्म हमें वात्सल्य की छाया से ढके हुए हैं।

व्याख्या– श्री रामचरितमानस में भी सतीमोह प्रसंग में गोस्वामी तुलसीदास जी ने ठीक ऐसा ही वर्णन किया है। सती जी मार्ग में जाते हुए एक कौतुक देखती हैं। उनके आगे भी सीताराम लक्ष्मण, उनके पीछे भी, उनके अगल-बगल भी वे ही तीनों मूर्तियाँ। जहाँ-जहाँ सती जी की दृष्टि जाती है वहीं-वहीं उन्हे श्रीसीताराम लक्ष्मण रूप परब्रह्म के दर्शन होते हैं।। श्री।।

सती दीख मग कौतुक जाता। आगे राम सहित श्री भ्राता।।
फिर चितये पाछे प्रभु देखा। सहित बन्धु सिय सुन्दर वेषा।।
जह चितवई तहँ प्रभु आसीना। सेवहि सिद्ध मुनीस प्रवीना।।

—*(मानस- १/५४/४,५,६)*

।। इति श्रीमुण्डकोपनिषद् के द्वितीय मुण्डक के द्वितीयखण्ड पर तुलसीपीठाधीश्वर श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य कृत श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पन्न हुआ ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

●

।। तृतीय मुण्डक ।।

।। अथ प्रथमखण्ड ।।

संगति– अब तृतीय मुण्डक के प्रथमखण्ड में परमकरुणहृदय माता श्रुति सामान्य जीवों को भगवान् की उपासना का उपदेश देना चाह रही हैं ।। श्री ।।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– उपासक और उपास्य इन दोनों का स्वरूपगत भेद आवश्यक है। क्योंकि कोई भी अपने से अपनी उपासना नहीं कर सकता। इसलिए भगवती श्रुति कृपा करके यहाँ वृक्ष और पक्षी का रूपक प्रस्तुत करती हुई जीवात्मा और परमात्मा का बड़े ही स्पष्ट शब्दों में स्वाभाविक स्वरूपगत भेद कह रही हैं। अनादिकाल (न जाने कितने समय) से सुन्दर पंखों वाले, एक साथ रहने वाले, तथा एक ही साथ खेलने और खाने वाले, एक ही साथ पहचान में आने वाले, दो पक्षी एक पीपल के वृक्ष पर एक ही समान स्थान लेकर चिपक कर बैठे हैं। उनमें से अपने मित्र से विलक्षण एक पक्षी पीपल के फल को स्वाद के साथ खा रहा है और उससे विलक्षण दूसरा पक्षी कुछ भी न खाता हुआ सतत् सुन्दर लगता रहता है ।। श्री ।।

व्याख्या– यहाँ द्वा, सुपर्णा, सयुजा, सखाया इन चार शब्दों में (पा०अ०७-१-३) ''सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडा-ड्या-याजालः'' सूत्र से 'औ' विभक्ति के स्थान पर 'आच्' आदेश हुआ है। यहाँ शरीर को ही पीपल वृक्ष की उपमा दी गई है। जीव और ब्रह्म ही पक्षी के उपमेय हैं। दोनों की अनादिकाल से मित्रता है। इसीलिए 'परिषस्वजाते' शब्द में परोक्षलिट् लकार का प्रयोग है। श्रुति का तात्पर्य यह है कि— जीव और ब्रह्म दोनों ही नित्य हैं, इनके प्रारंभ का किसी को ज्ञान नहीं हैं, अतः कब से इन दोनों की मित्रता हुई, कब तक चलेगी, कब से ये शरीर वृक्ष पर आये, कब तक रहेंगे इसका हमें कोई परिज्ञान नहीं हैं। यहाँ चार बार द्विवचन का प्रयोग करके श्रुति ने यह स्पष्ट कर दिया है कि— जीव और ब्रह्म जाग्रत, स्व्प्न, सुषुप्ति और तुरीया इन चारों अवस्थाओं में एक दूसरे से भिन्न ही रहते हैं। इनका कभी अभेद सिद्ध नहीं होता। इस प्रसंग में सुपर्णौ, सयुजौ, सखायौ ये तीन

विशेषण तथा द्वौ शब्द विशेष्य हैं। इनका तात्पर्य यह है कि— तीनों काल में जीव और ब्रह्म ये दोनों पृथक सत्ताएँ हैं। यहाँ दो बार अन्यशब्द का प्रयोग करके श्रुति ने दोनों में एक दूसरे का नित्य भेद सिद्ध किया। भगवान् जीव से विलक्षण हैं, क्योंकि वे समस्तकल्याणगुणगणसागर हैं। समस्त संसार की रचना उन अशेषगुणगणनिलय परमात्मा का असाधारण धर्म एवं लोकोत्तर चमत्कार है। इस मंत्र में जीव और ब्रह्म का स्वरूपगतभेद बहुत स्पष्ट रूप से सिद्ध हुआ है। और दोनों में परस्पर साधर्म्य और वैधर्म्य की चर्चा की गई है। दोनों की मित्रता, शरीर में साथ रहना, सुपर्णत्व ये सब साधर्म्य हैं। किन्तु अन्तर यह है कि जीव बहुत हैं और परमात्मा एक, जीव अणु है और परमात्मा व्यापक, जीव अल्पज्ञ है और परमात्मा सर्वज्ञ, जीव सदोष है और परमात्मा निर्दोष, जीव समल है और परमात्मा निर्मल, जीव ससीम है और परमात्मा असीम, जीव अल्प है और परमात्मा भूमा, जीव संसारी है और परमात्मा असंसारी, जीव इन्द्रिय सापेक्ष है और परमात्मा इन्द्रिय निरपेक्ष, जीव मोह विवश है और परमात्मा मोहातीत, जीव पराधीन है और परमात्मा स्वाधीन, जीव मायापतित है और परमात्मा मायापति ।। श्री ।।

जो यहाँ आद्य शंकराचार्य ने यह कहा कि— "सत्वोपाधिपरिच्छिन्नचैतन्य ही ईश्वर है और मलिनसत्व उपाधि से परिच्छिन्न चैतन्य जीवात्मा है, अर्थात् एक ही चैतन्य उपाधि भेद से दो प्रतीत हो रहा है। वास्तव में जीवात्मा और परमात्मा में भेद नहीं अभेद ही है।" उनके इस वक्तव्य पर मेरा निवेदन यह है कि उपाधिपरिच्छिन्न चैतन्य ईश्वर होता है इसमें क्या प्रमाण है। यदि वो यह कहे कि श्वेश्वतरोपनिषद् में—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यायवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।।

इस पर मेरा यह निवेदन है कि— यहाँ प्रयुक्त माया शब्दों को शंकराचार्य ने उपाधि कैसे मान लिया। और दूसरी बात यह है कि— माया शब्द से मत्वर्थ में इनि प्रत्यय हुआ है। वह मत्वर्थ यहाँ सम्बन्ध मात्र है। उस सम्बन्ध का आकार है नियम्य-नियामकभाव। अर्थात् माया नियम्य है और भगवान् उसके नियामक हैं, तो क्या नियम्य नियामक को ढक सकता है ? क्या छोटा सा मेघ अनन्त योजन व्यापी सूर्यनारायण को निगल सकता है। दूसरा प्रश्न यह है कि— आपकी उपाधि सत्य है या असत्य। यदि सत्य है तब आपने

अपने हाथ से ही, ब्रह्म सत्यत्व प्रतिज्ञा, की ऐसी की तैसी कर दी। और आपके ही सत्कर्म से आप का प्राणप्रिय अद्वैतवाद समाप्त हो गया। यदि आपकी उपाधि असत्य है तो फिर सत्य ब्रह्म को ढँक कैसे सकती है। अहो ! क्या मरुमरीचिका में कल्पित जल से किसी की प्यास बुझ सकती है।। श्री ।।

यहाँ तीसरा प्रश्न यह है कि— आपकी उपाधि स्वाश्रया है या पराश्रया अर्थात् उसका आधार क्या है ? यदि कहें कि वह स्वयं अपना आधार है तो यह बात असम्भव है। क्योंकि कोई भी अपने को अपना आधार नहीं बना सकता। क्या कोई स्वयं स्वयं के कन्धे पर चढ़ सकता है। यदि कहें कि उपाधि पराश्रया है अर्थात् उपाधि ब्रह्म को आश्रय मान कर टिकी है, तो यह पक्ष असंगत है, क्योंकि अंधकार सूर्य को आश्रय नहीं बना सकता। असत्य उपाधि ब्रह्म में नहीं रह सकती इसलिए मायावाद का अद्वैतवादी प्रपंच पूर्णरूप से अशास्त्रीय है। तृतीय चतुर्थ चरण में दो बार अन्य शब्द का प्रयोग करके श्रुति ने जीव और ब्रह्म इन दोनों में सर्वाधिक भेद सिद्ध किया है। क्योंकि अन्यशब्द अवधि का अपेक्षी है। और अवधि तथा अवधार्यमान में भेद स्वाभाविक है। इसी से जीव और ब्रह्म का भेद शास्वत सिद्ध हो गया।। श्री ।।

संगति– अब श्रुति यह तथ्य फिर स्पष्ट कर रही है।। श्री ।।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे शौनक ! पूर्व मन्त्र में कहे हुए समान वृक्षरूप शरीर पर बैठा हुआ यह जीवात्मा मोहनिद्रा में निमग्न होकर अविद्या द्वारा अविवेक को प्राप्त कराया जाता हुआ शोक में पड़ जाता है। अर्थात् इसे इष्ट के वियोग की अनुभूति होने लगती है। किन्तु जिस क्षण महापुरुषों के सत्संग से, श्री वैष्णव सद्गुरुदेव की कृपा से यह जीवात्मा अपने से विलक्षण तथा चित् और अचित् रूप विशेषणों से जुष्ट अर्थात् सेवित परब्रह्म परमात्मा को अपने नैनों से निहार लेता है और उनकी लोकोत्तर अचिन्त्य महिमा का अनुभव कर लेता है, उसी समय उसका शोक नष्ट हो जाता है।। श्री ।।

व्याख्या– इस मन्त्रमें अविद्या को अनीशा कहा गया है। क्योंकि उसका कोई ईश्वर नहीं होता। और स्वयं वह असमर्थ होती है। इस मन्त्र

के तृतीयचरण में 'जुष्टं' शब्द का प्रयोग करके श्रुति ने स्वयं विशिष्टाद्वैतवाद को सूत्रित कर दिया है।। श्री ।।

संगति– अब श्रुति ब्रह्मवेत्ता की ब्रह्मसमताप्राप्ति का वर्णन करती हैं। अर्थात् ब्रह्म को जान कर जीवात्मा में भी ब्रह्म के बहुत से गुण आ जाते हैं। क्योंकि समान व्यक्ति अपने प्रतियोगी से भिन्न होता ही है। अभेद में कभी सादृश्य नहीं होता। जैसे— चन्द्र जैसा मुख। इस वाक्य में मुख और चन्द्र दोनों अलग-अलग हैं। केवल चन्द्रमा का अह्लादकत्व मुख में आ गया है। उसी प्रकार मुक्त जीवात्मा में परमात्मा के केवल आठ गुण आविर्भूत हो जाते हैं। वे इस प्रकार हैं— अपहतपाप्मत्व, विजरत्व, विमृतित्व, विशोकत्व, अविजिघसत्व, अपिपासत्व, सत्यकामत्व, सत्यसंकल्पत्व। अर्थात् ब्रह्मवेत्ता भी मुक्तावस्था में ईश्वर की ही भाँति पापरहित, बृद्धावस्था रहित, मरणरहित, शोकरहित, बुभुक्षारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प हो जाता है। परन्तु जीवात्मा कभी भी परमात्मा का श्रीवत्सलाञ्छन नहीं प्राप्त कर सकता। वह तो भगवान् का असाधारण धर्म है। जीव सीतापुत्र बन सकता है सीतापति नहीं। सीतापति तो केवल राम ही हैं। इसीलिए भगवान् का चतुर्भुज रूप प्राप्त करने पर भी जटायु ब्रह्म नहीं बने, जीव भाव में ही रहे। उनको ब्रह्म की समानरूपता प्राप्त हुई।। श्री ।।

गीध देह तजि धरि हरि रूपा। भूषण बहु पट पीत अनूपा।।
श्यामल गात विशाल भुज चारी। अस्तुति करत नयन भरि बारी।।

—(मानस- ३-३२-१,२)

ब्रह्मसूत्र (४/४/१८) में वेदव्यास ने स्पष्ट कहा है कि— प्रमाण के अनुसार केवल भोगों में ही जीव को भगवान् की समता मिलती है। "भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च" जीव भगवान् की भाँति जगत् की सृष्टि नहीं कर सकता।। श्री ।।

यदापश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जिस समय 'अपश्य' अर्थात् अकाररूप वासुदेव को साक्षात्कार करने वाला पुरूषार्थवादी साधक, 'रुक्मवर्णं' स्वर्ण के समान तेजस्वी और स्वर्ण के समान पीताम्बर धारण किये हुए तथा ब्रह्माजी के भी पिता सारे संसार के कर्त्ता, 'ई' अर्थात् सीतारूपिणी महालक्ष्मी

जी के भी ईश पति महाविष्णु श्रीराम जी को अपने नैनों से निहार लेता है, तो वह विद्वान् शुभाशुभ कर्मों के फलरूप पुण्यपाप को समाप्त करके कर्मबंधन के लेप से मुक्त होकर भोगमात्र में परमपूज्य परमात्मा की समता को प्राप्त कर लेता है।। श्री।।

संगति– अब श्रुति ब्रह्मवेत्ता की प्रशंसा करती है।। श्री।।

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो प्रभु समस्त प्राणियों के प्राण हैं और जो पृथ्वी आदि पंचभूतों से अथवा मुक्त आत्मा महानुभावों से निरन्तर सुशोभित रहते हैं, ऐसे परमात्मा को विवेचनपूर्वक अपने स्वामी के रूप में जान कर उन्हीं परमात्मा के साथ उन्हीं की सन्निधि में क्रीडा करता हुआ, उन्हीं प्रभु की कृपा से सन्तुष्ट, वैदिक क्रिया से सम्पन्न ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ यह विद्वान् अतिवादी नहीं होता। अर्थात् बहुत कम बोलता है।। श्री।।

संगति– अब परमात्मा की प्राप्ति का प्रकार कहते हैं।। श्री।।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो परमात्मा सबके शरीर में अन्तर्यामीरूप से विराजते हैं, जो हेयगुणों से रहित तथा ज्योतिष स्वरूप हैं, एवं जिन्हें भगवद्भजन के प्रत्यवाय दोषों से रहित श्रीवैष्णव त्रिदण्डी सन्यासी महानुभाव ही साक्षात्कार कर पाते हैं, वे परमात्मा श्रीसीतारामजी सत्य, तपस्या ब्रह्मचर्य से समुदित सेवकसेव्यभाव के सम्यक् ज्ञान से ही प्राप्त किये जा सकते हैं।। श्री।।

संगति– अब भगवती श्रुति सत्य की प्रशंसा करती है।। श्री।।

सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जहाँ सत्य के परम निधान परमात्मा विराजते हैं ऐसे साकेतलोक को आप्तकाम ऋषिगण जिससे आक्रान्त कर लेते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं और जिस सत्य के कारण ही देवताओं द्वारा जाने योग्य देवयानमार्ग साधक के लिए खुला रहता है ऐसा सत्य ही सबसे उत्कृष्ट होकर विराजता है; असत्य नहीं।। श्री।।

संगति– अब श्रुति स्वरूप से सत्यब्रह्म का निवर्चन करती है ॥ श्री ॥

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति ।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥७॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– वह ब्रह्म सबसे बड़ा लोकोत्तर है। इसके नृसिंह, वामन, राम, कृष्ण आदि रूप अचिन्त्य हैं। यह नस्तिकों के लिए दूर से भी दूर है और भक्तों के लिए अत्यन्त निकट है। यह सूक्ष्म जीव से भी अत्यन्त सूक्ष्म है। यह सदैव सुशोभित रहता है। असाधकों के लिए दूर से दूर और साधकों के लिए अत्यन्त निकट रहने वाला यह ब्रह्म, दर्शन हेतु देवताओं के यत्न करते रहने पर भी योगमाया की अंचलगुफा में छिपा रहता है ॥ श्री ॥

संगति– अब श्रुति ब्रह्म की प्राप्ति की दुरूहता का वर्णन करती है ॥ श्री ॥

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥८॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे शौनक! वह ब्रह्म प्राकृत वाणी से नहीं ग्रहण किया जा सकता है। अनेक तपस्या और सत्कर्म से भी अन्य देवता उसे नहीं ग्रहण कर पाते। वस्तुतः अखण्ड ज्ञानमय परमात्मा के प्रसाद से जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो चुका है, ऐसा व्यापक बुद्धि वाला साधक उस सकलकलारहित परमात्मा को ध्यान का विषय बनाता हुआ उसका साक्षात्कार कर लेता है ॥ श्री ॥

संगति– अब परमात्मा के ज्ञान में चित्तरूप अन्तःकरण का निर्धारण करके जीवात्मा के प्रति उसकी उपयोगिता का वर्णन करते हैं ॥ श्री ॥

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश ।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥९॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे शौनक! जिस जीवात्मा के विराजमान रहने पर यह प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान इन पाँच रूपों से शरीर में प्रवेश करता है, जिस जीवात्मा के साक्षित्व में प्रजाओं के प्राणों से चित्त ओतप्रोत रहता है, जिसके शुद्ध होने पर यह परमात्मा जीवात्मा के पास भी अपने विभुधर्म का प्रयोग करते हैं अर्थात् अपने सामर्थ्य से जीव के कामक्रोधादि को नष्ट कर देता है, ऐसा यह अनुरूप जीवात्मा निर्मल चित्त से ही जाना जाा सकता है ॥ श्री ॥

व्याख्या– इस श्रुति के प्रथम चरण में जीवात्मा को अणु कहा गया है और इसके चतुर्थ चरण में परमात्मा को विभु माना गया है। यहाँ 'विभवति' का दूसरा भी अर्थ है— चित्त शुद्ध होने पर जीवात्मा 'विभवति विभुरिवाचरति' अर्थात् परमात्मा के समान आचरण करने लगता है॥ श्री॥

संगति– अब आत्मज्ञ की पूजा का फल कहते हैं॥ श्री॥

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्वः कामयते यांश्च कामन्।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः ॥१०॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे शौनक! आत्मज्ञ, अपने और परमात्मा के स्वरूप को जानने वाला शुद्धसत्वसम्पन्न साधक, मन से जिस-जिस लोक का चिन्तन करता है और जिन-जिन पदार्थों की कामना करता है, वह उन-उन लोकों और पदार्थों को जीत लेता है। इसलिए भगवत्कृपाविभूति की अभिलाषा करने वाले को उस आत्मज्ञ की पूजा करनी चाहिए।

॥ इति श्रीमुण्डकोपनिषद् के तृतीय मुण्डक के प्रथमखण्ड पर तुलसीपीठाधीश्वर श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य कृत श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पन्न हुआ॥

॥ श्रीराघवः शन्तनोतु॥

•

॥ अथ द्वितीयखण्ड ॥

संगति– अब श्रुति के द्वारा ब्रह्मज्ञान का प्रकार और ब्रह्मचर्य धारण की प्रक्रिया का निर्वचन किया जा रहा है॥ श्री॥

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥१॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे शौनक! वह आत्मज्ञानी ही उस परम तेजस्वी निर्दोष ब्रह्म को जान लेता है जिसमें यह सारा विश्व विराज रहा है। जो लोग निष्कामभावना से उस परमपुरुष परमात्मा की उपासना करते हैं, वे धीर जन इस शुक्रसम्भवसंसार का अतिलंघन करके विशुद्ध परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं। मानसकार भी कहते हैं कि— जिस पर असीम भगवत् कृपा होती है वही कामवेग को सह पाता है। यथा—

धरी न काहु धीर सबके मन मनसिज हरे।
जेहि राखे रघुवीर सो उबरे तेहि काल मँह ।।

—(मानस- १, ८५)

संगति– अब जिसकी सम्पूर्ण कामनाएँ समाप्त हो गयी है उसकी श्रुति प्रशंसा करती हैं ।। श्री ।।

कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस् त्विहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो अभिमानयुक्त व्यक्ति भिन्न-भिन्न भोगों की कामना करता है, वह उन कामनाओं की पूर्ति के लिए ऊँची नीची योनियों में जन्म लेता है। जिसकी कामनायें समाप्त अथवा पूर्ण हो चुकी है और जिसने परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया है, उस महापुरुष की सभी कामनायें इसी जीवन में समाप्त हो जाती हैं और उसे संकल्पित कामनाओं के लिए जन्म नहीं लेना पड़ता ।। श्री ।।

संगति– अब परमात्मा की प्राप्ति का प्रकार कहते हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे शौनक! यह परमात्मा केवल वेद के अध्यापन से नहीं प्राप्त होते, यह केवल मेधा और केवल वेदान्तश्रवण से भी नहीं मिलते, जिस किसी बड़भागी व्यक्ति को अपना कृपावात्सल्यपात्र मान कर यह परमात्मा स्वीकार कर लेते हैं, उसी महात्मा के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं और उसकी सहायता से अन्य को भी प्राप्त हो जाते हैं। क्योंकि अपने कृपापात्र उस महापुरूष के समक्ष परमात्मा अपनी कोटिकन्दर्पकमनीय नीलनीरदरमणीय मुनिजनमननीय मनोहर मूर्ति को प्रकट कर देते हैं ।। श्री ।।

व्याख्या– 'तेन लभ्यः' यहाँ कर्त्ता और कर्म दोनों अर्थों में तृतीया है। तात्पर्य यह है कि भगवान् अपने कृपापात्र को तो प्राप्त होते ही हैं, साथ ही साथ भगवत्कृपापात्र जिस पर कृपा कर देता है उसे भी भगवान् के दर्शन हो जाते हैं। जैसे श्री पुष्पवाटिका में प्रभु भगवान् श्रीराम ने श्रीसीता जी का वरण किया और उनके सामने प्रकट हुए, साथ ही सीताजी की कृपा से उनकी सखियों ने भी प्रभु के दर्शन पा लिये ।। श्री ।।

संगति– भगवती श्रुति फिर परमात्मा की प्राप्ति का प्रकार कहती है ।। श्री ।।

नायमात्म बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात् ।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे शौनक ! यह परमात्मा आत्मबल रहित साधक द्वारा नहीं प्राप्त किये जाते हैं और न ही प्रमादपूर्वक शास्त्रीय प्रमाणों से रहित तपस्या से भगवान् मिलते हैं। जो साधक प्रवचन, मेधा, श्रवण, आत्मबल, अप्रमाद तथा शास्त्र, वेद, तपस्या से अर्थपंचकसिद्धान्त के अनुसार परमात्मा को प्राप्त करने का यत्न करता है, उसी का अन्तःकरण ब्रह्मधाम में प्रवेश करता है। अथवा उसी के हृदयरूपधाम में परब्रह्म परमात्मा प्रवेश करते हैं ।। श्री ।।

व्याख्या– श्री रामचरित मानस में प्रभु राम लक्ष्मण से कहते हैं—

बचन करम मन मोरि गति भजन करइ निस्काम।
ताके हृदय कमल मँह करऊ सदा विश्राम।।

—(मानस- ३/१६)

संगति– अब श्रुति भगवत्साक्षात्कारी त्रिदण्डी महात्माओं का महत्त्व कहती है—

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मनो वीतरागाः प्रशान्ताः ।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मनः सर्वमेवाविशन्ति ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे शौनक ! इन परमात्मा को प्राप्त करके सेवकसेव्यभावसम्बन्धज्ञान से तृप्त, परमात्मा के साक्षात्कार से कृतार्थ अन्तःकरण वाले, रागद्वेष से रहित, परमशान्त महर्षिगण, सर्वभाव से, संसार के सभी सम्बन्धों की भावना से, अपने शरीर को भगवत् कैंकर्य में समर्पित करके, सर्वव्यापी परमात्मा को प्राप्त करके उन्हीं सर्वस्वरूप परमेश्वर में विलीन हो जाते हैं ।। श्री ।।

संगति– महात्मा परमात्मा में अपने को कैसे विलीन करते हैं, श्रुति इसका प्रकार कह रही है ।। श्री ।।

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः सन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– वेदान्त के विशिष्टाद्वैतज्ञान से जिन्होंने परमार्थ तत्व का विशेष निश्चय कर लिया है एवं प्रपत्तिलक्षणसन्यासयोग से जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो चुका है, ऐसे यतीन्द्रवर्य महाप्रयाण होने पर ब्रह्मलोक श्रीसाकेतधाम में परमअमृत भक्तिरस को प्राप्त करके संसारबंधन से मुक्त हो जाते हैं।। श्री ।।

संगति– फिर परमात्मा में जीवात्मा के प्रलय का वर्णन करते हैं।। श्री ।।

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ।।७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– सभी पन्द्रह कलायें प्राणों में, प्राण देवताओं में, देवता प्रतिदेवताओं में, प्रतिदेवता कर्मों में, कर्म विज्ञानमय आत्मा में, और आत्मा परमात्मा में इस प्रकार उन परमपरमेश्वर परमात्मा में अनेक होते हुए भी एक जैसे हो जाते हैं।। श्री ।।

संगति– अब श्रुति के द्वारा नामरूप से मुक्ति का प्रकार कहा जा रहा है।। श्री ।।

यथा नद्यः स्यन्दमाना समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।।८।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे शौनक ! जिस प्रकार से द्रुतगति से बहने वाली नदियाँ अपने गंगादि नाम और श्वेत आदि रूपों को छोड़ कर समुद्र में जाकर अस्त हो जाती है, उसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता पुरुष अपने सांसारिक नाम रूपों से मुक्त होकर भगवत्सम्बन्धी दासान्त नाम (रामदास,रामभद्रदास इत्यादि) तथा भगवत्सेवा के लिए उपयोगी दिव्यरूप धारण करके परमदिव्य जीवात्मा से भी सूक्ष्म परमपुरुष परमात्मा के समीप चला जाता है।। श्री ।।

संगति– अब फलश्रुति का वर्णन करते हैं।। श्री ।।

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्या ब्रह्मवित्कुले भवति ।
तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ।।९।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे शौनक ! इस प्रकार जो परब्रह्म परमात्मा को जान लेता है, वह ब्रह्म के लिए हो जाता है। उसके कुल में कोई

ब्रह्मज्ञान शून्य नहीं होता। वह शोक को पार कर लेता है, वह पापसागर से भी तर जाता है और वह हृदय की ग्रन्थियों से मुक्त होकर अमृत अर्थात् मरणधर्म से मुक्त हो जाता है॥ श्री॥

संगति– अब श्रुति वेदान्त का अधिकार कहती हैं—

तदेतदृचाभ्युक्तम्—

क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः।
तेषामेवैषां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्॥१०॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यही बात वैदिक ऋचा द्वारा भी कही गयी है। जो क्रियावान् अर्थात् सदाचारयुक्त है, जो श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ हैं, जो आस्तिक बुद्धि रखते हुए अग्निहोत्रविधि से अद्वितीय ऋषि परमात्मा को संतुष्ट करते रहते हैं, जिन्होंने शिरोव्रत अर्थात् वानप्रस्थ आश्रम में जटाधारण, पंचाग्निताप, चौरासी धूनी इत्यादि कठोर शिर का व्रत कर लिया है, उन्हीं को ब्रह्मविद्या का उपदेश करना चाहिए॥ श्री॥

संगति– अब ग्रन्थ का उपसंहार करते हैं॥ श्री॥

तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते।
नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः॥११॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार महर्षि अङ्गिरा ने शौनक को इस शाश्वतसत्य का उपदेश किया। जिसने ब्रह्मचर्यादि व्रतों का पालन नहीं किया है, वह इसका अध्ययन नहीं कर सकता, आचरण बहुत दूर रहा। परमपूज्य ऋषियों को नमस्कार, परम पूजय ऋषियों को नमस्कार। द्विरुक्ति ग्रन्थ समाप्ति की सूचना के लिए की गयी है॥ श्री॥

यह मुण्डकोपनिषद पर राघवकृपा सुभाष।
रामभद्र आचार्य किय श्रुति सिद्धान्त प्रकाश्य।

॥ इति श्रीमुण्डकोपनिषद् के तृतीय मुण्डक के द्वितीयखण्ड पर तुलसीपीठाधीश्वर श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य कृत श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पन्न हुआ॥

॥ **श्रीराघवः शन्तनोतु** ॥

●

हिमालय
ओङ्कार
जप
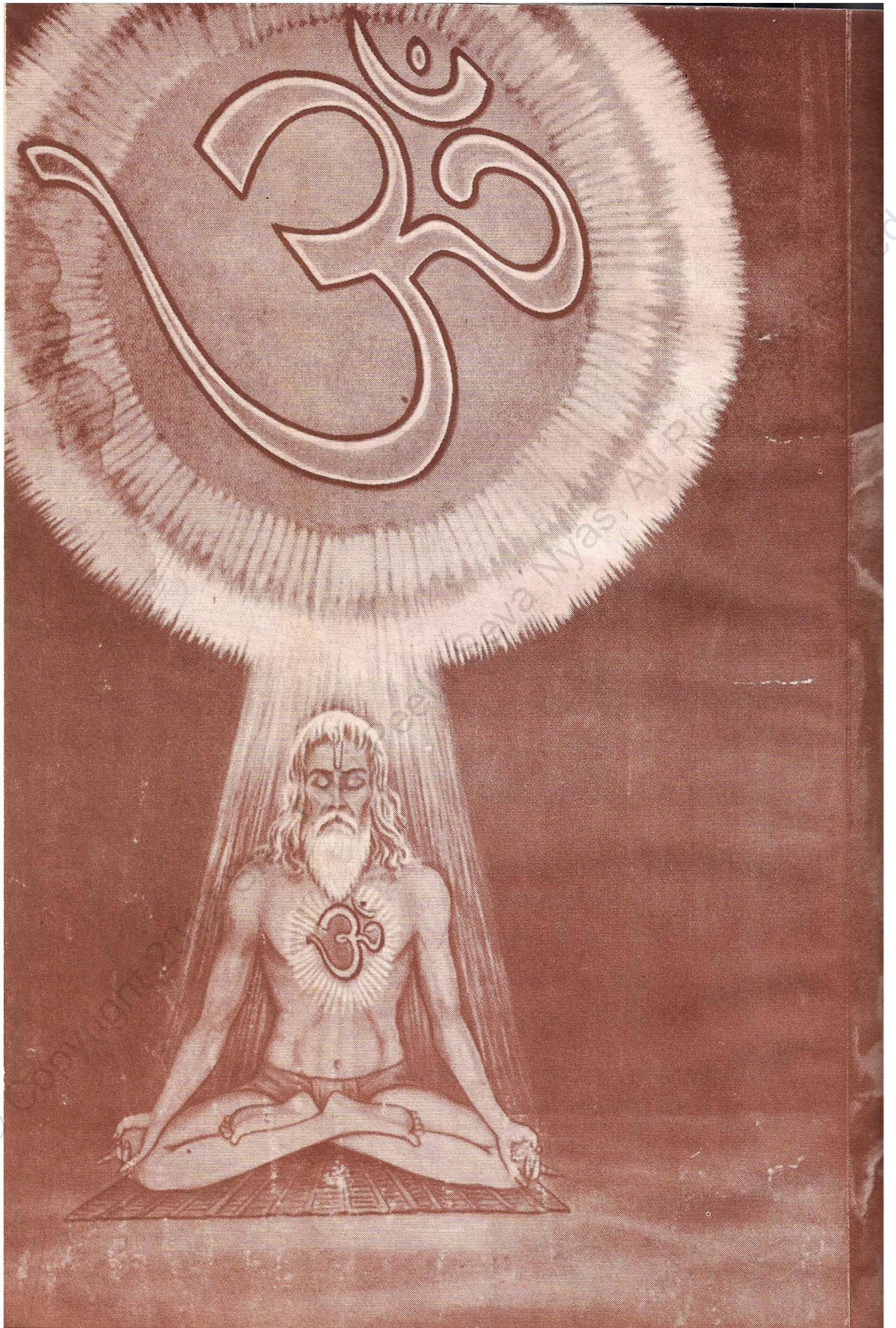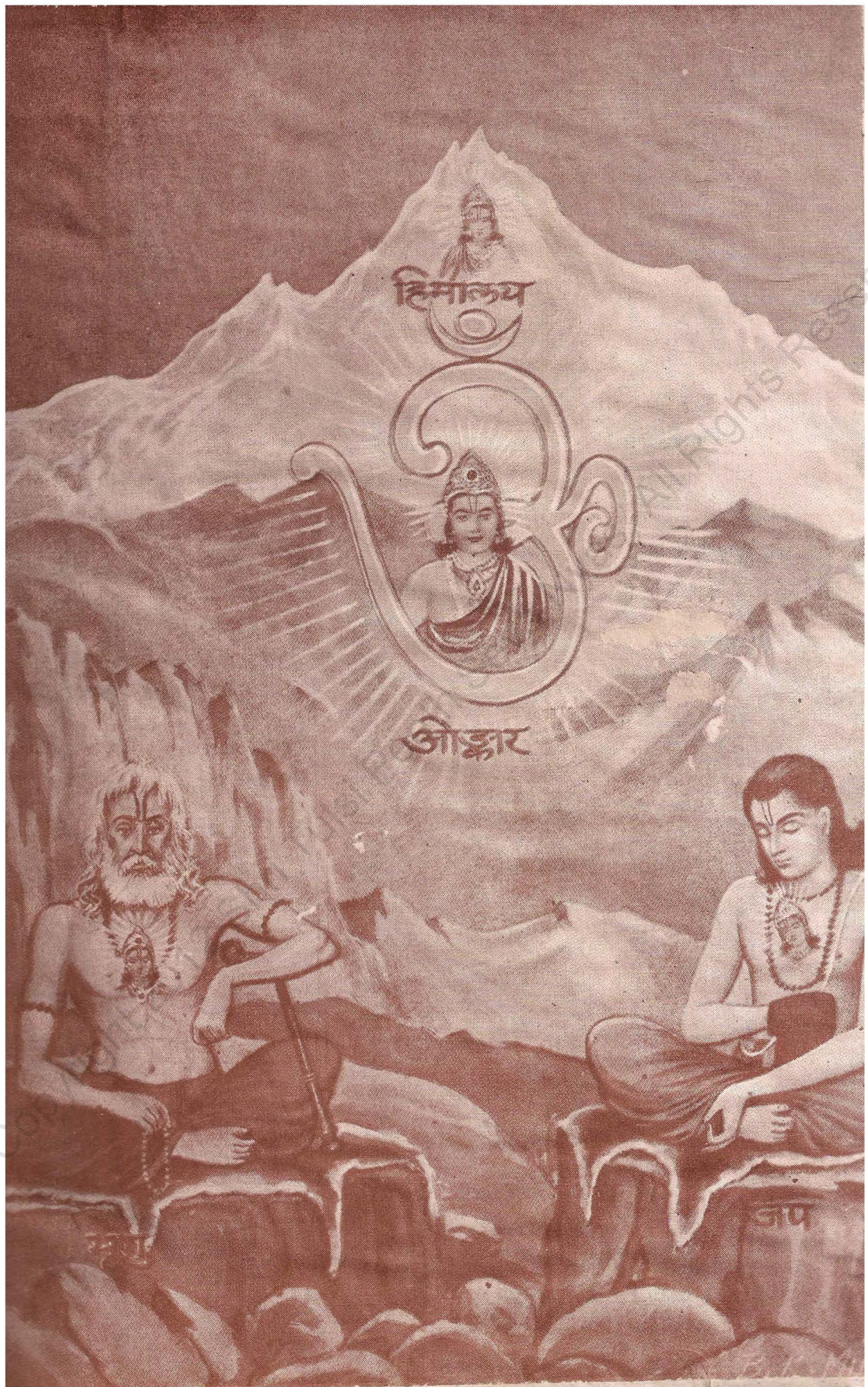
।। श्रीः ।।

ध्रुवमिदं, विश्वस्य विश्वेऽपि विचरकाश्चामनन्ति यज्जीवेनात्यन्तिकं सुखं नोपलब्धुं शक्यते केवलैः सांसारिकैर्भोगैः। तत्कृते तु तैः जगन्नियन्तुः परमात्मनः शरणमेवाङ्गीकरणीयम्। अनादिकालादेव सर्गेऽस्मिन् ब्रह्मजिज्ञासासमाधानपराः विचाराः प्रचलन्ति। विषयेऽस्मिन् सर्वे दार्शनिकाः सहमता यद्वेदैरेवास्य गूढरहस्यात्मकस्य परब्रह्मणः प्रतिपादनं सम्भवम्।

परब्रह्मणो निश्वासभूता अनन्तज्ञानराशिस्वरूपाः वेदाः ज्ञानकर्मोपासनाख्येषुत्रिषु काण्डेषु विस्कृताः सन्ति। एषां ज्ञानकाण्डाख्य उपनिषद्भागे वेदान्तापरनामधेया ब्रह्मविद्या वैशद्येन विर्वेचिता व्याख्याता चास्ति। आसामुपनिषदां सम्यग्ज्ञानेनैव ब्रह्मज्ञानं तेन च भवदुःखनिवृत्तिरित्युपनिषदां सर्वातिशायिमहत्वं राद्धान्तयन्ति मनीषिणः। आसु प्रश्नोत्तरात्मकातिरमणीयसुमम्यसरलशैल्या जैवात्मपरमात्मनोर्जगतश्च विस्तृतं व्याख्यानं कृतमस्ति। अनेकैर्महर्षिभिरनेकैः प्रकारैरुद्भावितानां ब्रह्मविषयकप्रश्नानां समाधानानि ब्रह्मवेतृणां याज्ञवल्क्यादिमहर्षीणां मुखेभ्य उपस्थापयन्त्युपनिषदः। भगवता वेदव्यासेन ब्रह्मसूत्रेषु भगवता श्रीकृष्णेन च श्रीगीतायामासामेव सारतत्वं प्रतिपादितम्।

भारतीयदर्शनानामाधारभूता इमे त्रयो ग्रन्थाः विभिन्नसम्प्रदायप्रवर्तकैराचरयैर्व्यख्याताः। एष्वद्वैतवादिन आद्यशङ्कराचार्याः प्रमुखा, अन्ये च द्वैतशुद्धाद्वैतद्वैताद्वैतशिवाद्वैतदिवादिनो विद्वांसः स्वस्वमतानुसारमुपनिषदः व्याख्यापयांबभूवुः।

अथ साम्प्रतिकभारतीयदार्शनिकमूर्धन्यैर्वेदवेदाङ्गपारङ्गतैर्धर्मध्वजधारिधौरेयैः श्रीरामानन्दाचार्यैः श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामभद्राचार्यमहाराजैर्विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तमनुसृत्य कृतामिदमुपनिषदां **''श्रीराघवकृपाभाष्यम्''** सर्वत्रैवाभिनवविचारैर्व्युत्पत्तिभिश्चालङ्कृतं विभाति। भाष्येऽस्मिन्नाचार्यचरणैः शब्दव्युत्पत्तिचातुरीचमत्कारेण सर्वोपनिषदां प्रतिपाद्यः भगवान् श्रीराम एवेति सिद्धान्तितम्। मध्ये मध्ये गोस्वामिश्रीतुलसीदासग्रन्थेभ्यः ससंस्कृतरूपान्तरमुदाहृता अंशविशेषासुवर्णे सुरभिमातन्वन्ति। श्रीराघवपदपद्ममधुकराः भक्ता अत्रामन्दानन्दमाप्नुयुरिति भगवन्तं श्रीराघवं निवेदयति।

डॉ. शिवरामशर्मा
वाराणसी